क्रांतिबीज



आचार्य श्री रजनीश

प्रकाशक :
रमणलाल सी. शाह
जीवन जागृति केन्द्र
५०५, कालबादेवी रोड,
बम्बई–२

प्रथमावृत्ति : २५००
जनवरी १९६५

मुद्रक :
मेसर्स खेमराज श्रीकृष्णदास
अध्यक्ष श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
७ वी खेतवाड़ी, बम्बई ४ के लिये
वी. पी. अवस्थी मैनेजर

क्रांतिबीज

"मैं भी एक किसान हूं, और मैंने भी कुछ बीज बोये थे, और फिर उनमें अंकुर आये और अब फूल लग गये हैं। उन फूलों की सुगंध से मेरा सारा जीवन भर गया है। उस सुगंध के कारण अब मैं किसी और लोक में हूं। उस सुगंध ने मुझे, नया जन्म दिया है, और अब जो मैं साधारण आंखों से दिखाई पड़ता हूं, वही नहीं हूं। अदृश्य और अज्ञात ने अपने बन्द द्वार खोल दिये हैं, और मैं उस जगत को देख रहा हूं, जो आंखों से नही देखा जाता है, और उस संगीत को सुन रहा हूं, जिसे सुनने में कान समर्थ नही होते हैं। और इस भांति जो मैंने जाना है, और पाया है, वह वैसे ही मुझसे बहने और प्रवाहित होने को उत्सुक है, जैसे पहाड़ों के झरने सागर की ओर प्रवाहित होते और भागते हैं।

"स्मरण रहे कि बदलियां जब पानी से भर जाती हैं, तो उन्हें बरसना पड़ता है, और फूल जब सुवास से भर जाते हैं, तो उन्हें हवाओं को अपनी सुगंध लुटा देनी होती है।

"और, जब कोई दिया जलता है, तो आलोक उससे बहता ही है।

"ऐसा ही कुछ हुआ है। और, कुछ क्रांति बीज हवायें मुझसे लिये जा रही हैं। मुझे कुछ ज्ञात नहीं कि वे किन खेतों में पहुंचेंगे, और कौन उन्हें सम्हालेगा। मैं तो इतना ही जानता हूं, उनसे ही मुझे जीवन के, अमृत के, और प्रभु के फूल उपलब्ध हुये हैं; और जिस खेत में भी वे पड़ेंगे, वहीं की मिट्टी अमृत के फूलों में परिणित हो

जावेगी। मर्त्य में अमृत छिपा है, और मृत्यु में जीवन, वैसे ही जैसे मिट्टी में फूल छिपे होते हैं। पर, मिट्टी की संभावना, फूलों के बीजों के अभाव में कभी वास्तविकता में परिणित नहीं हो सकती है। बीज उसे प्रगट कर देते हैं, जो अप्रगट था, और उसे अभिव्यक्त कर देते हैं, जो कि प्रछन्न था।

"जो भी मेरे पास है, जो भी मैं हूं, उसे अमृत के, दिव्य के, भागवत चैतन्य के बीजों के रूप में बांट देना चाहता हूं। ज्ञान में जो पाया जाता है, प्रेम उसे लुटा देता है। ज्ञान से परमात्मा जाना जाता है, प्रेम से परमात्मा हुआ जाता है। ज्ञान साधना है, प्रेम सिद्धि है।"

आचार्य श्री. रजनीश के इन शब्दों में उनका पूरा हृदय प्रगट है। यही वे रोज कहते हैं, यही वे रोज करते हैं। उनके शब्दों में, उनकी आंखों में, उनकी श्वासों में—सबमें वे उन्हीं बीजों को लुटा रहे हैं, जिनसे उनका जीवन एक अलौकिक आनन्द और सौंदर्य बन गया है, और जिनके द्वारा वे चाहते हैं, कि सबके जीवन में भी आलोक के फूल लग सकें। उनका यह आलोक संदेश सब तक पहुंच सके, इसलिये हम उनके कुछ पत्र यहां प्रकाशित कर रहे हैं।

ये अमृत पत्र उन्होंने चादा, महाराष्ट्र, की माँ. मदन कुंवर पारख को लिखे थे।

१

एक गांव मे गया था । किसी ने कहा : धर्म त्याग है । त्याग बड़ी कठिन और कठोर साधना है ।

मैं सुनता था तो एक स्मरण हो आया । छोटा था—बहुत बचपन की बात होगी । कुछ लोगों के साथ नदी तट पर वन-भोज को गया था । नदी तो छोटी थी, पर रेत बहुत थी । और रेत में चमकीले रंगों भरे पत्थर बहुत थे । मैं तो जैसे खजाना पा गया था । सांझ तक इतने पत्थर बीन लिये थे कि उन्हें साथ लाना असम्भव था । चलते क्षण जब उन्हें पीछे छोड़ना पड़ा तो मेरी आंखें भीग गई थीं । और साथ के लोगों की उन पत्थरों की ओर विरक्ति देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ था । उस दिन वे मुझे बड़े त्यागी लगे थे ।

और आज सोचता हूं तो दिखता है कि पत्थरों को पत्थर जान लेने पर त्याग का कोई प्रश्न ही नहीं है ।

अज्ञान भोग है । ज्ञान त्याग है ।

त्याग क्रिया नहीं है । वह करना नहीं होता है । वह हो जाता है । वह ज्ञान का सहज परिणाम है । भोग भी यांत्रिक है । वह भी कोई करता नहीं है । वह अज्ञान की सहज परिणति है ।

फिर, त्याग के कठिन और कठोर होने की बात ही व्यर्थ है । एक तो वह क्रिया ही नहीं है । क्रियायें ही कठिन और कठोर हो सकती है । वह तो परिणाम है । फिर उसमे जो छूटता मालूम होता है, वह निर्मूल्य और जो पाया जाता है वह अमूल्य होता है ।

वस्तुतः त्याग जैसी कोई वस्तु ही नहीं है, क्योंकि जो हम छोड़ते हैं, उससे बहुत को पा लेते हैं ।

सच तो यह है कि हम केवल बंधनों को छोड़ते हैं और पाते हैं मुक्ति। छोड़ते हैं कौड़िया और पाते हैं हीरे। छोड़ते हैं मृत्यु और पाते हैं अमृत। छोड़ते हैं अंधेरा और पा लेते हैं प्रकाश–शाश्वत और अनन्त। इसलिए, त्याग क्या है? न कुछ को छोड़कर सब कुछ को पा लेना त्याग नहीं है।

२

कल रात्रि कोई महायात्रा पर निकल गया है। उसके द्वार पर आज रुदन है।

ऐसे क्षणों में बचपन की एक स्मृति मन पर दुहर जाती है। पहली बार मरघट जाना हुआ था। चिता जल गई थी और लोग छोटे-छोटे झुन्ड बनाकर बातें कर रहे थे। गांव के एक कवि ने कहा था : "मैं मृत्यु से नहीं डरता हूं। मृत्यु तो मित्र है।"

यह बात तबसे अनेक रूपों में अनेक लोगों से सुनी है। जो ऐसा कहते हैं, उनकी आंखों में भी देखा है और पाया है कि भय से ही ऐसी अभय की बातें निकलती हैं।

मृत्यु को अच्छे नाम देने से ही कुछ परिवर्तन नहीं हो जाता है। वस्तुतः डर मृत्यु का नहीं है, डर अपरिचय का है। जो अज्ञात है, वह भय पैदा करता है। मृत्यु से परिचित होना जरूरी है। परिचय अभय ले आता है। क्यों? क्योंकि परिचय से ज्ञात होता है कि 'जो है' उसकी मृत्यु नहीं है।

जिस व्यक्तित्व को हमने अपना 'मैं' जाना है, वही टूटता है, उसकी ही मृत्यु है। वह है नहीं, इसलिये टूट जाता है। वह केवल सांयोगिक है : कुछ तत्वों का जोड़ है, जोड़ खुलते ही बिखर जाता है, यही है मृत्यु और इसलिये व्यक्तित्व के साथ स्वरूप को एक जानना जब तक है तब तक मृत्यु है।

व्यक्तित्व से गहरे उतरें, स्वरूप पर पहुंचें और अमृत उपलब्ध हो जाता है।

इस यात्रा का—व्यक्तित्व से स्वरूप तक की यात्रा का मार्ग धर्म है।

समाधि मे, मृत्यु से परिचय हो जाता है ।

सूरज ऊगते ही जैसे अंधेरा न हो जाता है, वैसे ही समाधि उपलब्ध होते ही मृत्यु न हो जाती है ।

मृत्यु न तो शत्रु है, न मित्र है, मृत्यु है ही नहीं । न उससे भय करना है न उससे अभय होना है, केवल उसे जानना है । उसका अज्ञान भय है, उसका ज्ञान अभय है ।

३.

एक मंदिर गया था। पूजा हो रही थी। मूर्तियों के सामने सिर झुकाये जा रहे थे। एक वृद्ध साथ थे, बोले : 'धर्म में लोगों को अब श्रद्धा न रही। मंदिर में भी कम ही लोग दिखाई पड़ते हैं।'

मैंने कहा : 'मंदिर में धर्म कहां है?'

मनुष्य भी कैसा आत्मवंचक है : अपने ही हाथों से बनाई मूर्तियों को भगवान समझ स्वयं को धोखा दे लेता है। मन से रचित शास्त्रों को सत्य समझकर तृप्ति कर लेता है?

मनुष्य के हाथों और मनुष्य के मन से जो भी रचित है वह धर्म नहीं है। मंदिरों में बैठी मूर्तियाँ भगवान की नहीं, मनुष्य की ही हैं। और शास्त्रों में लिखा हुआ मनुष्य की अभिलाषाओं और विचारणाओं का ही प्रतिफलन है, सत्य का अंतर्दर्शन नहीं। सत्य को तो शब्द देना संभव नहीं है।

सत्य की कोई मूर्ति संभव नहीं है; क्योंकि, वह असीम, अनंत और अमूर्त है। उसका कोई रूप है, न धारणा, न नाम। आकार देते ही वह अनुपस्थित हो जाता है।

उसे पाने के लिये सब मूर्तियाँ और सब मूर्त धारणायें छोड़ देनी पड़ती है। स्व निर्मित कल्पनाओं के सारे जाल तोड़ देने पड़ते हैं। वह असृष्ट तब प्रगट होता है जब मनुष्य की चेतना उसकी मनःसृष्ट कारा से मुक्त हो जाती है।

वस्तुतः, उसे पाने को मंदिर बनाने नहीं, विसर्जित करने होते हैं। मूर्तियां गढनी नहीं, विलीन करनी होती है। आकार के आग्रह खोने पड़ने [illegible] तराकार का आगमन हो सके। चित्त [illegible]

हटते ही वह अमूर्त प्रगट हो जाता है। वह तो था ही। केवल मूर्तियों और मूर्त में दब गया था। जैसे किसी कक्ष में सामान भर देने से रिक्त स्थान दब जाता है। सामान हटाओ और वह जहां था वहीं है।

ऐसा ही है सत्य : मन को खाली करो और वह है।

४.

सुबह एक उपदेश सुना है। अनायास ही सुनने में आया है। एक साधु बोलते थे। मैं उस राह से निकला तो सुन पड़ा। वे बोल रहे थे कि धार्मिक होने का मार्ग ईश्वर-भीरु होना है। जो ईश्वर से डरता है, वही धार्मिक है। भय ही उसपर प्रेम लाता है। 'भय बिन होई न प्रीति'। प्रेम भय के अभाव में असंभव है।

साधारणतः, जिन्हें धार्मिक कहा जाता है, वे शायद भय के कारण ही होते हैं। जिन्हें नैतिक कहा जाता है, उनके आधार में भी भय ही होता है।

कांट ने कहा है: 'ईश्वर न हो तो भी उसका मानना आवश्यक है।' यह भी शायद इसीलिये ही कि उसका भय लोगों को शुभ बनाता है।

मैं इन बातों को सुनता हूं तो हंसे बिना नहीं रहा जाता है। इतनी भ्रांत और असत्य शायद और कोई बात नहीं हो सकती है।

धर्म का भय से कोई संबंध नहीं है। धर्म तो अभय से उत्पन्न होता है।

प्रेम भी भय के साथ असंभव है। भय प्रेम कैसे पैदा कर सकता है? उसमें तो केवल प्रेम का अभिनय ही पैदा हो सकता है, और अभिनय के पीछे अप्रेम के अतिरिक्त और क्या होगा? प्रेम का भय से पैदा होना एक असंभावना है।

और, इसलिये वह धार्मिकता और नैतिकता जो भय पर आधारित होती है, सत्य नहीं, मिथ्या है। वह आरोपण है, आत्मशक्ति का आरोहण नहीं। धर्म या प्रेम आरोपित नहीं किया जाता है। उसे तो जगाना होता है।

सत्य भय पर नहीं खड़ा होता है। वह सत्य के लिये आधार नहीं विरोध ही है। उसकी आधारशिला तो अभय है।

हटते ही वह अमूर्त प्रगट हो जाता है। वह तो था ही। केवल मूर्तियों और मूर्त में दब गया था। जैसे किसी कक्ष में सामान भर देने से रिक्त स्थान दब जाता है। सामान हटाओ और वह जहां था वहीं है।

ऐसा ही है सत्य : मन को खाली करो और वह है।

९.

सुबह एक उपदेश सुना है। अनायास ही सुनने में आया है। एक साधु बोलते थे। मैं उस राह से निकला तो सुन पड़ा। वे बोल रहे थे कि धार्मिक होने का मार्ग ईश्वर-भीरु होना है। जो ईश्वर से डरता है, वही धार्मिक है। भय ही उसपर प्रेम लाता है। 'भय बिन होई न प्रीति'। प्रेम भय के अभाव में असंभव है।

साधारणतः, जिन्हें धार्मिक कहा जाता है, वे शायद भय के कारण ही होते हैं। जिन्हें नैतिक कहा जाता है, उनके आधार में भी भय ही होता है।

कांट ने कहा है: 'ईश्वर न हो तो भी उसका मानना आवश्यक है।' यह भी शायद इसीलिये ही कि उसका भय लोगों को शुभ बनाता है।

मैं इन बातों को सुनता हूं तो हंसे बिना नहीं रहा जाता है। इतनी भ्रांत और असत्य शायद और कोई बात नहीं हो सकती है।

धर्म का भय से कोई संबंध नहीं है। धर्म तो अभय से उत्पन्न होता है।

प्रेम भी भय के साथ असंभव है। भय प्रेम कैसे पैदा कर सकता है? उसमें तो केवल प्रेम का अभिनय ही पैदा हो सकता है, और अभिनय के पीछे अप्रेम के अतिरिक्त और क्या होगा? प्रेम का भय से पैदा होना एक असंभावना है।

और, इसलिये वह धार्मिकता और नैतिकता जो भय पर आधारित होती है, सत्य नहीं, मिथ्या है। वह आरोपण है, आत्मशक्ति का आरोहण नहीं। धर्म या प्रेम आरोपित नहीं किया जाता है। उसे तो जगाना होता है।

सत्य भय पर नहीं खड़ा होता है। वह सत्य के लिये आधार नहीं विरोध ही है। उसकी आधारशिला तो अभय है।

धर्म और प्रेम के फूल अभय की भूमि में ही लगते हैं। और, भय में जो लगा लिये जाते हैं, वे फूल नहीं हैं, कागज के धोखे हैं।

ईश्वरानुभूति अभय में ही उपलब्ध होती है। या कि ठीक हो यदि कहें कि अभय चेतना ही ईश्वरानुभूति है। जिस क्षण समस्त भयग्रंथियां चित्त से विसर्जित हो जाती हैं, उस क्षण जो होता है, वही सत्य साक्षात है।

५.

दोपहर तप गई है। पलाश वृक्षों पर फूल अंगारों की तरह चमक रहे हैं।

एक सुनसान रास्ते से गुजरता हूं। बांसों के घने झुरमुट हैं और उनकी छाया भली लगती है।

कोई अपरिचित चिड़िया गीत गाती है। उसके निमंत्रण को मान वहीं रुक जाता हूं।

एक व्यक्ति साथ हैं। पूछ रहे हैं-- 'क्रोध को कैसे जीतें, काम को कैसे जीतें?' यह बात तो अब रोज-रोज पूछी जाती है। इसके पूछने में ही भूल है, यही उनसे कहता हूं।

समस्या जीतने की है ही नहीं। समस्या-मात्र जानने की है। हम न क्रोध को जानते हैं और न काम को जानते हैं। यह अज्ञान ही हमारी पराजय है।

जानना जीतना हो जाता है। क्रोध होता है, काम होता है तब हम नहीं होते हैं। होना नहीं होता है, इसलिये हम नहीं होते हैं। इस मूर्च्छा में जो होता है, वह बिल्कुल यांत्रिक है। मूर्च्छा टूटते ही पछतावा आता है, पर वह व्यर्थ है क्योंकि जो पछता रहा है वह काम के पकड़ते पुनः सो जाने को है। यह न सो पावे--अमूर्च्छा बनी रहे--जागृति सम्यक् स्मृति बनी रहे तो पाया जाता है कि न क्रोध है, न काम है। यांत्रिकता टूट जाती है और फिर किसी को जीतना नहीं पड़ता है। दुश्मन पाये ही नहीं जाते हैं।

एक प्रतीक कथा से समझें। अंधेरे में कोई रस्सी सांप दीखती है। कुछ उसे देखकर भागते हैं, कुछ लड़ने की तैयारी करते हैं।

दोनों ही भूल में हैं क्योंकि दोनों ही उसे स्वीकार कर लेते हैं। कोई निकट जाता है और पाता है कि सांप है ही नहीं। उसे कुछ करना नहीं होता, केवल निकट भर जाना होता है।

मनुष्य को अपने निकट भर जाना है। मनुष्य में जो भी है सबसे उसे परिचित होना है। किसी से लड़ना नहीं है और मैं कहता हूं कि बिना लड़े ही विजय घर आ जाती है।

स्व-चित्त के प्रति सम्यक् जागरण ही जीवन विजय का सूत्र है।

६.

रात्रि बीत गई है, और खेतों में सुबह का सूरज फैल रहा है। एक छोटा-सा नाला अभी-अभी पार हुआ है। गाड़ी की आवाज सुन, सफेद चांदनी के फूलों से सफेद बगुलों की एक पंक्ति सूरज की ओर उड़ गई है।

फिर कुछ हुआ है और गाड़ी रुक गई है। इस निर्जन में उसका रुकना भला लगा है।

मेरे अपरिचित सह यात्री भी उठ आये हैं। रात्रि किसी स्टेशन पर उनका आना हुआ था। शायद मुझे सन्यासी समझ कर प्रणाम किया है। कुछ पूछने की उत्सुकता उनकी आंखों में है। आखिर वे बोल रहे हैं: 'अगर कोई बाधा आपको न हो तो मैं एक बात पूछना चाहता हूं। मैं प्रभु में उत्सुक हूं और उन्हें पाने को बहुत प्रयास किया है। पर कुछ परिणाम नहीं निकला है। क्या प्रभु मुझ पर कृपालु नहीं है?

मैंने कहा: "कल मैं एक बगीचे में गया था। कुछ साथी साथ थे। एक को प्यास थी। उसने बाल्टी कुएं में डाली। गहरा कुआं था। बाल्टी खींचने में श्रम पड़ा पर बाल्टी जब लौटी तो खाली थी। सब हंसने लगे। मुझे लगा यह बाल्टी तो मनुष्य के मन जैसी है। उसमें छेद ही छेद थे। बाल्टी नाम मात्र को थी बस छेद ही छेद थे। पानी भरा था पर सब बह गया था। ऐसा ही मन भी हमारा छेद ही छेद है। इस छेद वाले मन को कितना ही प्रभु की ओर फेंको वह खाली ही वापिस लौट आता है। मित्र, पहले बाल्टी ठीक कर लें फिर पानी खींच लेना एकदम आसान है। हां, छेद वाली बाल्टी से तपश्चर्या तो खूब होगी पर तृप्ति नहीं हो सकती है। और स्मरण रहे कि प्रभु न कृपालु है न अकृपालु है। बस आपकी बाल्टी भर ठीक होनी चाहिये कुआं तो हमेशा पानी देने को राजी होता है। उसकी ओर से कभी कोई इंकार नहीं है।"

दोनों ही भूल में हैं क्योंकि दोनों ही उसे स्वीकार कर लेते हैं। कोई निकट जाता है और पाता है कि सांप है ही नहीं। उसे कुछ करना नहीं होता, केवल निकट भर जाना होता है।

मनुष्य को अपने निकट भर जाना है। मनुष्य में जो भी है सबसे उसे परिचित होना है। किसी से लड़ना नहीं है और मैं कहता हूं कि बिना लड़े ही विजय घर आ जाती है।

स्व-चित्त के प्रति सम्यक् जागरण ही जीवन विजय का सूत्र है।

६.

रात्रि बीत गई है, और खेतों में सुबह का सूरज फैल रहा है। एक छोटा-सा नाला अभी-अभी पार हुआ है। गाड़ी की आवाज सुन, सफेद चांदनी के फूलों से सफेद बगुलों की एक पंक्ति सूरज की ओर उड़ गई हैं।

फिर कुछ हुआ है और गाड़ी रुक गई है। इस निर्जन में उसका रुकना भला लगा है।

मेरे अपरिचित सह यात्री भी उठ आये हैं। रात्रि किसी स्टेशन पर उनका आना हुआ था। शायद मुझे सन्यासी समझ कर प्रणाम किया है। कुछ पूछने की उत्सुकता उनकी आंखों में है। आखिर वे बोल रहे हैं: 'अगर कोई बाधा आपको न हो तो मैं एक बात पूछना चाहता हूं। मैं प्रभु मे उत्सुक हूं और उन्हें पाने को बहुत प्रयास किया है। पर कुछ परिणाम नहीं निकला है। क्या प्रभु मुझ पर कृपालु नहीं है?

मैंने कहा: "कल मैं एक बगीचे में गया था। कुछ साथी साथ थे। एक को प्यास थी। उसने बाल्टी कुएं में डाली। गहरा कुआं था। बाल्टी खींचने में श्रम पड़ा पर बाल्टी जब लौटी तो खाली थी। सब हंसने लगे। मुझे लगा यह बाल्टी तो मनुष्य के मन जैसी है। उसमें छेद ही छेद थे। बाल्टी नाम मात्र को थी बस छेद ही छेद थे। पानी भरा था पर सब बह गया था। ऐसा ही मन भी हमारा छेद ही छेद है। इस छेद वाले मन को कितना ही प्रभु की ओर फेंको वह खाली ही वापिस लौट आता है। मित्र, पहले बाल्टी ठीक कर लें फिर पानी खींच लेना एकदम आसान है। हां, छेद वाली बाल्टी से तपश्चर्या तो खूब होगी पर तृप्ति नहीं हो सकती है। और स्मरण रहे कि प्रभु न कृपालु है न अकृपालु है। बस आपकी बाल्टी भर ठीक होनी चाहिये कुआँ तो हमेशा पानी देने को राजी होता है। उसकी ओर से कभी कोई इंकार नहीं है।"

७.

एक दिन नदी के किनारे खड़ा था : देखा, एक कागज की नाव पानी में डूब गई है ।

कल कुछ रेत के घरौंदे बच्चों ने बनाये थे, वे भी मिट गये हैं ।

रोज नावें डूबती हैं और रोज घरौंदे टूट जाते हैं ।

एक महिला आई थी । सपने उनके पूरे नहीं हुये हैं । जीवन में मन उनका उचाट है । आत्महत्या के विचार ने उन्हें पकड़ लिया है । आंखें गड्ढों में चली गई हैं और सब व्यर्थ मालूम होता है ।

मैंने कहा : सपने किसके पूरे होते हैं । सब सपने अंततः दुख देते हैं, कारण कागज की नावें बही भी तो कितनी दूर बह सकती हैं ? इसमें भूल सपने की नहीं है, वे तो स्वभाव से ही दुष्पूर हैं । भूल हमारी है । जो सपना देखता है, वह सोया है । जो सोया है, उसकी कोई उपलब्धि वास्तविक नहीं है । जागते ही सब पाया, न पाया हो जाने को है । सपने नहीं, सत्य देखें । जो है, उसे देखें । उसे देखने से मुक्ति आती है । वही नाव सच्ची है वही जीवन की परिपूर्णता तक ले जाती है ।

स्वप्नों में मृत्यु है। सत्य में जीवन है । स्वप्न यानि निद्रा । सत्य यानि जागृति । जागें और अपने को पहचानें । जब तक स्वप्न में मन है, तब तक जो स्वप्न को देख रहा है, वह नहीं दीखता है । वही सत्य है । वही है उसे पाते ही डूबी नावों और गिर गये घरौंदों पर केवल हंसी मात्र आती है ।

८.

एक सूफी गीत है :

"प्रेमी के द्वार किसी ने दस्तक दी। भीतर से आवाज आई, 'बाहर कौन है।' जो द्वार के बाहर खड़ा था, उसने कहा : 'मैं हूं।' प्रत्युत्तर में उसे सुन पड़ा : 'यह गृह 'मैं' और 'तू' दो को नहीं संभाल सकता है।"

और बन्द द्वार बन्द ही रहा। प्रेमी वन में चला गया। उसने तप किया, उपवास किये, प्रार्थनायें कीं। बहुत चांदों के बाद वह लौटा और पुनः उसने वे ही द्वार खटखटाये। दुबारा वही प्रश्न : 'बाहर कौन है ?'

पर इस बार खुल गये क्योंकि उसका उत्तर दूसरा था। उसने कहा: 'तू ही है।'

यह उत्तर कि 'तू ही है' समस्त धर्म का सार है। जीवन के अनन्त असीम प्रवाह पर 'मैं' की गांठ ही बंधन है। 'मैं' व्यक्ति को सत्ता से तोड़ देता है। 'मैं' का बुदबुदा सत्ता प्रवाह से अपने को भिन्न समझ बैठता है, बुदबुदे की अपनी कोई सत्ता नहीं है। उसका कोई केन्द्र और अपना जीवन नहीं है। वह सागर ही है।सागर ही उसका जीवन है। सागर में होकर ही उसका होना है। सागर से पृथक सत्ता का बोध ही अज्ञान है। बुदबुदे के भीतर झांको तो सागर मिल जाता है। 'मैं' के भीतर झांको तो ब्रह्म मिल जाता है।

'मैं' जहां नहीं है, वहां वस्तुतः 'तू' भी नहीं है। वहां केवल 'होना' मात्र है। केवल अस्तित्व है, शुद्ध सत्ता है। इस शुद्ध सत्ता में जागना निर्वाण है।

९.

एक मिट्टी का दिया जल रहा था वह भी बुझ गया है। हवा का एक झोंका आया और उसे ले गया। मिट्टी के दियों का विश्वास भी क्या ? और, उन ज्योतियों का साथ भी कितना जिन्हें हवायें बुझा सकती हैं ?

अंधेरे के सागर में डूब गये हैं। एक युवक बैठे हैं। अंधेरे में उन्हें बहुत भय लग रहा है। वे कह रहे हैं कि अंधेरे में उनके प्राण कंप जाते हैं और सांसें लेना भी मुश्किल हो जाता है।

मैं उनसे कह रहा हूं कि जगत् में तो अंधेरा ही अंधेरा है और ऐसी कोई भी ज्योति जगत् के पास नहीं है कि अंधेरे को नष्ट कर दे जो भी ज्योतियां हैं, वे देर-अबेर स्वयं ही अंधेरे में डूब जाती हैं। वे आती हैं और चली जाती हैं, पर अंधेरा वहीं का वहीं बना रहता है। जगत् का अंधकार तो शाश्वत है और उसकी ज्योतियों पर जो विश्वास करते हैं, वे नासमझ हैं, क्योंकि वे ज्योतियां वास्तविक नहीं हैं, और सब अंततः अंधेरे से पराजित हो जाती हैं।

पर, एक और लोक भी है। जगत् से भिन्न एक और जगत् भी है। जगत् अंधकार है, तो वह लोक प्रकाश ही प्रकाश है। जगत् में प्रकाश क्षणिक और सामयिक है और अंधकार शाश्वत है तो उस लोक में अंधकार क्षणिक और सामयिक और आलोक शाश्वत है।

एक और भी आश्चर्य है कि अंधकार का लोक हमसे दूर और प्रकाश का लोक बहुत निकट है।

अंधकार बाहर है, आलोक भीतर है,

और स्मरण रहे कि जब तक अंतस् के आलोक में जागरण नहीं होता है, तब तक कोई ज्योति अभय नहीं दे सकती है। मिट्टी के

मृण्मय दियों पर विश्वास छोड़ो और चिन्मय ज्योति को खोजो उससे ही अभय और आनंद और वह आलोक मिलता है जिसे कि कोई छीन नहीं सकता है। और वही अपना है जो कि छीना न जा सके और वही अपना है जो कि बाहर नहीं है।

आंख के बाहर अंधकार है, पर आंख के भीतर तो देखो कि वहां क्या है?

यदि वहां भी अंधकार होता तो अंधकार का बोध नहीं हो सकता था? जो अंधकार को जानता है, वह अंधकार नहीं हो सकता है।

और जो आलोक की आकांक्षा करता है, वह कैसे अंधकार हो सकता है? वह आलोक है, इसलिये उसे आलोक की आकांक्षा है, वह आलोक है, इसलिये उसे आलोक की अभीप्सा है। आलोक ही केवल आलोक के लिये प्यासा हो सकता है। जहां से प्यास आती है, वहीं खोजो–उसी बिन्दु को लक्ष्य बनाओ तो पाओगे कि जिसकी प्यास है, वह वहीं छिपा हुआ है।

१०.

मैं ईश्वर भीरू नहीं हूं । ईश्वर तक नहीं ले जाता है । उसे पाने की भूमिका अभय है ।

मैं किसी अर्थ मे श्रद्धालु भी नहीं हूं । श्रद्धा मात्र अंधी होती है । और, अंधापन परम सत्य तक कैसे ले जा सकता है?

मैं किसी धर्म का अनुयायी भी नहीं हूं । क्योंकि, धर्म को विशेषणों में बाटना संभव नहीं है । वह एक और अविभक्त है ।

कल जब मैं यह कहा तो किसीने पूछा: 'फिर क्या आप नास्तिक हैं?'

मैं न नास्तिक हूं, न आस्तिक ही हूं । वे भेद सतही और बौद्धिक हैं । सत्ता से उनका कोई संबंध नहीं है । सत्ता " है" और न है, 'मैं विभक्त नहीं है । वह भेद मन का है । इसलिये, नास्तिकता आस्तिकता दोनों मानसिक हैं । आत्मिक को वे नहीं पहुंच पाती हैं । आत्मिक विधेय और नकार दोनों का अतिक्रमण कर जाता है ।

'जो है' वह विधेय और नकार के अतीत है ।

या, फिर वहां दोनों एक हैं और उनमें कोई भेद रेखा नहीं है । बुद्धि से स्वीकार की गई किसी भी धारणा की वहां कोई गति नहीं है । वस्तुत: आस्तिक को आस्तिकता छोड़नी होती है और नास्तिक को नास्तिकता तब कहीं वे सत्य में प्रवेश कर पाते है। वे दोनों ही बुद्धि के आग्रह हैं । आग्रह आरोपण है । सत्य कैसा है यह निर्णय नहीं करना होता है वरन् अपने को खोलते ही वह जैसा है उसका दर्शन हो जाता है ।

यह स्मरण रखें कि सत्य का निर्णय नहीं, दर्शन करना होता है ।

जो सब बौद्धिक निर्णय छोड देता है, जो सब तार्किक धारणायें

छोड़ देता है, जो समस्त मानसिक आग्रह अनुमान छोड़ देता है वह उस निर्दोष चित्त स्थिति में सत्य के प्रति अपने को खोल रहा है जैसे फूल प्रकाश के प्रति अपने को खोलते हैं।

इस खोलने में दर्शन की घटना संभव होती है।

इसलिये, जो न आस्तिक है, न नास्तिक है, उसे मैं धार्मिक कहता हूं। धार्मिकता भेद से अभेद में छलांग है।

विचार जहां नहीं, निर्विचार है: विकल्प जहां नहीं, निर्विकल्प है: शब्द जहां नहीं, शून्य है वहा धर्म में प्रवेश है।

१०.

मैं ईश्वर भीरू नहीं हूं। ईश्वर तक नहीं ले जाता है। उसे पाने की भूमिका अभय है।

मैं किसी अर्थ में श्रद्धालु भी नहीं हूं। श्रद्धा मात्र अंधी होती है। और, अंधापन परम सत्य तक कैसे ले जा सकता है?

मैं किसी धर्म का अनुयायी भी नहीं हूं। क्योंकि, धर्म को विशेषणों में बांटना संभव नहीं है। वह एक और अविभक्त है।

कल जब मैं यह कहा तो किसीने पूछा: 'फिर क्या आप नास्तिक हैं?'

मैं न नास्तिक हूं, न आस्तिक ही हूं। ये भेद सतही और बौद्धिक हैं। सत्ता से उनका कोई संबंध नहीं है। सत्ता " है" और न है, 'में विभक्त नहीं है। वह भेद मन का है। इसलिये, नास्तिकता आस्तिकता दोनों मानसिक हैं। आत्मिक को वे नहीं पहुंच पाती हैं। आत्मिक विधेय और नकार दोनों का अतिक्रमण कर जाता है।

'जो है' वह विधेय और नकार के अतीत है।

या, फिर वहां दोनों एक है और उनमें कोई भेद रेखा नहीं है। बुद्धि से स्वीकार की गई किसी भी धारणा की वहां कोई गति नहीं है। वस्तुतः आस्तिक को आस्तिकता छोड़नी होती है और नास्तिक को नास्तिकता तब कहीं वे सत्य में प्रवेश कर पाते हैं। ये दोनों ही बुद्धि के आग्रह हैं। आग्रह आरोपण है। सत्य कैसा है यह निर्णय नहीं करना होता है वरन् अपने को खोलते ही वह जैसा है उसका दर्शन हो जाता है।

यह स्मरण रखें कि सत्य का निर्णय नहीं, दर्शन करना होता है। जो सब बौद्धिक निर्णय छोड देता है, जो सब तार्किक धारणायें

छोड़ देता है, जो समस्त मानसिक आग्रह अनुमान छोड़ देता है वह उस निर्दोष चित्त स्थिति में सत्य के प्रति अपने को खोल रहा है जैसे फूल प्रकाश के प्रति अपने को खोलते हैं।

इस खोलने में दर्शन की घटना संभव होती है।

इसलिये, जो न आस्तिक है, न नास्तिक है, उसे मैं धार्मिक कहता हूं। धार्मिकता भेद से अभेद में छलांग है।

विचार जहां नहीं, निर्विचार है: विकल्प जहां नहीं, निर्विकल्प है: शब्द जहां नहीं, शून्य है वहां धर्म में प्रवेश है।

११.

रात्री मे घूमने निकला था। गांव का ऊबड़-खाबड़ रास्ता था। साथ एक साधु थे। बहुत उन्होंने यात्रा की थी। शायद ही कोई तीर्थ था जहां वे नहीं हो आये थे। प्रभु को पाने का वे मार्ग खोज रहे थे।

उस रात्रि उन्होंने मुझसे भी पूछा था: 'प्रभु को पाने का मार्ग क्या है ?'

यह प्रश्न उन्होंने औरों से भी पूछा था। मार्ग भी धीरे धीरे उन्हें बहुत ज्ञात हो गये थे। पर प्रभु से जो दूरी थी वह उतनी ही बनी थी। ऐसा भी नहीं था कि इन मार्गों पर वे चले नहीं थे। यथाशक्ति प्रयास भी किया था। पर हाथ आया था केवल चलना ही। पहुंचना नहीं हुआ था। पर अभी मार्ग से ऊबे नहीं थे। और नयों की तलाश जारी थी।

मैं थोड़ी देर चुप ही रहा था। फिर कहा था:'जो मैं स्वयं हूं उसे पाने का कोई मार्ग नहीं है। मार्ग पर को और दूर को पाने के होते हैं। जो निकट है, निकट ही नहीं, जो मैं ही हूं, वह वह मार्ग से नहीं मिलता है। मार्ग के योग्य वहां अंतराल ही नहीं है।

फिर, पाना उसे होता है जिसे खोया हो। प्रभु को क्या खोया जा सकता है?

जो खोया जा सके वह स्वरूप नहीं हो सकता है।

वह केवल विस्मृत है।

इसलिये, कहीं जाना नहीं है। केवल स्मरण करना है। कुछ करना नही है। केवल जानना है।

और, जानना ही पहुंचना है। जानना है कि यह मैं कौन हूं? और यह ज्ञान ही प्रभु उपलब्धि है।

एक दिन जब सारे प्रयास व्यर्थ हो जाते हैं, और कोई भी मार्ग कहीं ले जाता प्रतीत नहीं होता है तब दीखता है कि जो भी मैं कर सकता हूं वह सत्य तक नहीं ले जायेगा। कोई क्रिया मैं के रहस्य को नहीं खोलेगी, क्योंकि क्रियामात्र बाहर ले जाती है।

कोई क्रिया सत्ता तक नहीं लाती है। जहां क्रिया का अभाव है वहां सत्ता प्रगट होती है।

कोई क्रिया उसे नहीं देगी क्योंकि वह क्रियाओं के पूर्व भी है।

कोई मार्ग 'वहां' के लिये नहीं है क्योंकि वह तो 'यहां' है।

१२.

एक संध्या की बात है। गेलीली झील पर तूफान आया हुआ था। एक नौका डूबती-डूबती हो रही थी। बचाव का कोई उपाय नहीं दीखता था। यात्री और मांझी घबड़ा गये थे। आंधियों के थपेड़े प्राणों को हिला रहे थे। पानी की लहरें भीतर आना शुरु हो गई थीं और किनारे पहुंच से बहुत दूर थे। पर इस गरजते तूफान में भी नौका के एक कोने में एक व्यक्ति सोया हुआ था। शान्त और निश्चिन्त उसके साथियों ने उसे उठाया। सबकी आंखों में आसन्न मृत्यु की छाया थी।

उस व्यक्ति ने उठकर पूछा——इतने भयभीत क्यों हो? जैसे भय की कोई बात ही न थी। उसके साथी अवाक् रह गये। उनसे कुछ कहते भी तो नहीं बना। उसने पुनः कहा——"क्या अपने आप पर बिल्कुल भी आस्था नहीं है?" इतना कहकर वह शान्ति और धीरज से उठा और नाव के एक किनारे पर गया। तूफान आखिरी चोटें कर रहा था। उसने उस विक्षुब्ध हो गई झील से जाकर कहाः "शान्ति, शान्त हो जाओ।" Peace Be still.

तूफान जैसे कोई नटखटी बच्चा था। ऐसे ही उसने कहा थाः "शान्त हो जाओ।"

यात्री समझें होंगे कि यह क्या पागलपन है। तूफान क्या किसी की मानेगा। लेकिन उनकी आंखों के सामने ही तूफान सो गया था और झील ऐसी शान्त हो गई थी कि जैसे कुछ हुआ ही नहीं है।

उस व्यक्ति की बात मान ली गई थी।

वह व्यक्ति था जीसस क्राईस्ट और यह बात है दो हजार वर्ष पुरानी, पर मुझे यह घटना रोज ही घटती मालुम होती है।

क्या हम सभी निरंतर एक तूफान—एक अशान्ति से नहीं घिरे हुये है? क्या हमारी आंखों में भी निरंतर आसन्न मृत्यु की छाया नहीं है? क्या हमारे भीतर चित्त की झील विक्षुब्ध नहीं है? क्या हमारी जीवन नौका भी प्रतिक्षण डूबती-डूबती नहीं मालूम होती है?

तब क्या उचित नहीं है कि हम अपने से पूछें "इतने भयभीत क्यों हो ?" क्या अपने आप पर बिल्कुल भी आस्था नहीं है ? और फिर अपने भीतर झील पर जाकर कहें "शान्ति, शान्त हो जाओ ।"

मैं यह कहकर देखा हूं और पाया है कि तूफान सो जाता है। केवल शान्त होने के भाव करने की ही बात है और शान्ति आ जाती है। अपने भाव से प्रत्येक अशान्त है। अपने भाव से शान्त भी हो सकता है। शान्ति उपलब्ध करना अभ्यास की बात नहीं है। केवल सद्भाव ही पर्याप्त है। शान्ति तो हमारा स्वरूप है। घनी अशान्ति के बीच भी एक केन्द्र पर हम शान्त हैं। एक व्यक्ति यहां तूफान के बीच भी निश्चिन्त सोया हुआ है। इस शान्त, निश्चल। निश्चिन्त केन्द्र पर ही हमारा वास्तविक होना है ? उसके होते हुये भी हम अशान्त हो सके है, यही आश्चर्य है। उसे वापिस पा लेने में तो कोई आश्चर्य नहीं है।

शान्त होना चाहते हो तो इसी क्षण अभी और यहीं शान्त हो सकते हो। अभ्यास भविष्य में फल लाता है, सद्भाव वर्तमान में ही, सद्भाव अकेला वास्तविक परिवर्तन है।

१३.

"मैं कौन हूं?" यह अपने से पूछता था। कितने दिवस रात्रि यह पूछते बीते, अब उनकी कोई गणना भी तो संभव नहीं है। बुद्धि उत्तर देती थी: सुने हुये: संस्कार जन्य। वे सब बातें उधार और मृत थे। उनसे तृप्ति नहीं होती थी। सतह पर कहीं गूंजकर वे विलीन हो जाते थे। अंतरात्मा उनसे अछूती रह जाती थी। गहराई में उनकी कोई ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती थी।उत्तर बहुत थे, पर उत्तर नहीं था। और मैं उनसे अस्पर्शित रह जाता था। प्रश्न जहां पर था, वहां उनकी पहुंच नहीं थी।

फिर यह दीखा: प्रश्न कहीं केन्द्र पर था: उत्तर परिधि पर थे। प्रश्न अपना था, उत्तर पराये थे। प्रश्नअंतस् में जागा था : समाधान बाहर से आरोपित था।

और यह दीखना तो क्रान्ति बन गया।

एक नई दिशा उद्घाटित हो गई।

बुद्धि के समाधान व्यर्थ हो गये। समस्या से उनकी कोई संगति नहीं थी। एक भ्रम भग्न हो गया था। और कितनी मुक्ति मालुम हुई थी?

जैसे बंद द्वार खुल गया हो या कि अचानक अंधेरे में प्रकाश हो गया हो, ऐसा मालुम हुआ था। बुद्धि उत्तर देती थी, वही भूल थी। उन तथाकथित उत्तरों के कारण वास्तविक उत्तर ऊपर नहीं आ पाता था। कोई सत्य ऊपर आने को तड़फ रहा था। चेतना की गहराईयों में कोई बीज भूमि को तोड़कर प्रकाश के दर्शन के लिये मार्ग खोज रहा था। बुद्धि बाधा थी।

यह दीखा तो उत्तर गिरने लगे। बाहर से आया ज्ञान वाष्प होने लगा। प्रश्न और गहरा गया। कुछ किया नहीं, केवल देखता रहा।

देखता रहा। कुछ अभिमान घटित हो रहा था। मैं तो अवाक् था करने को था ही क्या, मैं जैसे बस दर्शक ही था। परिधि की प्रति-क्रियायें झड़ रही थीं, मिट रहीं थीं, न हो रहीं थीं। और केन्द्र अब पूरी तरह झंकृत हो उठा था।

'मैं कौन हूं', एक ही प्यास से समग्र व्यक्तित्व स्पंदित हो उठा था।

कैसी आंधी थी वह स्वांस-स्वांस उसमें कंपित हो गई थी।

'कौन हूं मैं'? एक तीर की भांति प्रश्न सब कुछ चीरता भीतर चल रहा था।

स्मरण करता हूं कितनी तीव्र प्यास थी। सारे प्राण ही तो प्यास में बदल गये थे। सब कुछ जल रहा था। और एक अग्नि शिखा की भांति प्रश्न भीतर खड़ा था: कौन हूं मैं?

और आश्चर्य कि बुद्धि बिल्कुल चुप थी। निरंतर बहने वाले विचार नहीं थे। यह क्या हुआ था कि परिधि नितांत निष्पंद थी। कोई विचार नहीं था। कोई संस्कार नहीं था।

मैं था और प्रश्न था, नहीं, नहीं: मैं ही प्रश्न था।

और फिर विस्फोट हो गया। एक क्षण में सब परिवर्तित हो गया। प्रश्न गिर गया था। किसी अज्ञात आयाम से समाधान आ गया था।

सत्य श्रम से नहीं, विस्फोट से उपलब्ध होता है।

उसे लाया नहीं जाता है। सत्य आता है।

शब्द नहीं, शून्य समाधान है। निरुत्तर हो जाने में उत्तर है।

कल कोई पूछता था, और रोज ही कोई पूछता है: 'वह उत्तर क्या है?'

मैं कहता हूं: 'उसे मैं कहूं तो वह अर्थहीन है उसका अर्थ उसे स्वयं पाने में है।'

१४.

"मैं उपदेशक नहीं हूं। कोई उपदेश, कोई शिक्षा मैं नहीं देना चाहता हूं। अपना कोई विचार तुम्हारे मन मे डालने की मेरी कोई आकांक्षा नही है। सब विचार व्यर्थ हैं और धूलिकणों की भांति वे तुम्हें आच्छादित कर लेते है। और, फिर तुम जो नहीं हो वैसे दिखाई पड़ने लगते हो। और जो तुम नही जानते हो वह ज्ञात-सा मालूम होने लगता है। यह बहुत आत्मघातक है।

विचारों से अज्ञान मिटता नहीं, केवल छिप जाता है। ज्ञान को जगाने के लिये अज्ञान को उसकी पूरी नग्नता में जानना जरूरी है। इससे विचारों के वस्त्रों में अपने को मत ढांको। समस्त वस्त्रों और आवरणों को अलग कर दो ताकि तुम अपनी नग्नता और रिक्तता से परिचित हो सको। वह परिचय ही तुम्हें अज्ञान के पार ले जाने वाला सेतु बनेगा। अज्ञान के बोध का तीव्र संताप ही क्रांति का बिन्दु है।

इससे मैं तुम्हें ढांकना नही, उघाड़ना चाहता हूं। जरा देखो: तुमने कितनी अंधी श्रद्धाओं और धारणाओं और कल्पनाओं में अपने को छिपा लिया है। और इन मिथ्या सुरक्षाओं में तुम अपने को सुरक्षित समझ रहे हो। यह सुरक्षा नहीं, आत्मवंचना है।

मैं तुम्हारी इस निद्रा को तोड़ना चाहता हूं। स्वप्न नहीं, केवल सत्य ही एकमात्र सुरक्षा है।

और तुम यदि स्वप्नों को छोड़ने का साहस करो तो सत्य को पाने के अधिकारी हो जाते हो। कितना सस्ता सौदा है। सत्य को पाने को और कुछ नहीं केवल स्वप्न ही छोड़ने पड़ते हैं।

विचारों की, स्वप्नों की कल्पना चित्रों की मूर्च्छा को तोड़ना है। उससे जो कि दीख रहा है उस पर जागना है जो कि देख रहा है।

"वह दृष्टा ही सत्य है,उसे पा लो तो समझो किजीवन पा लिया है।"

यह किसी से कह रहा था। वे सुनकर विचारमग्न हो गये। मैंने उनसे कहा : आप तो सोच में पड़ गये। उसी से तो मैं जागने को कह रहा हूं। वही तो निद्रा है।

१९.

एक बैलगाड़ी निकलती है । उसके चाक देखता हूं । धुरी पर चाक घूमते हैं । जो स्वयं स्थिर है, उस पर चाकों का घूमना है। गति के पीछे स्थिर बैठा हुआ है । क्रिया के पीछे अक्रिय है । सत्ता के पीछे शून्य का वास है ।

ऐसे ही एक दिन देखा धूल का एक बवंडर । धूल का गुब्बारा चक्कर खाता हुआ ऊपर उठ रहा था पर बीच में एक केन्द्र था जहां सब शान्त और थिर था ।

क्या जगत का मूल सत्य इन प्रतीकों में प्रगट नहीं है ?
क्या समस्त सत्ता के पीछे शून्य नहीं बैठा हुआ है ?
क्या समस्त क्रिया के पीछे अक्रिया नहीं है ?

शून्य ही सत्ता का केन्द्र और प्राण है । उसे ही जानना है । उसमें ही होना है क्योंकि वही हमारा वास्तविक होना है । जो प्रत्येक अपने केन्द्र पर है वही प्रत्येक को होना है । कहीं और नहीं, जो हम हैं, वहीं हमें चलना है ।

यह होना कैसे हो ?

उसे देखो जो 'देखता है' और शून्य में उतरना हो जाता है ।

'दृश्य' से 'दृष्टा' की ओर चलना है । दृश्य है रूप, क्रिया, सत्ता । दृष्टा है अरूप, अक्रिया, शून्य । 'दृश्य' है पर, अनित्य, संसार बंधन, अमुक्ति, आवागमन । 'दृष्टा' है स्व, नित्य, ब्रह्म, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण । देखो जो देखता है, उसे देखो । यही समस्त योग है ।

यही रोज कह रहा हूं या जो भी कह रहा हूं उसमें यही है ।

१६.

ज्ञान के लिये पिपासा है। कितनी प्यास है? प्रत्येक में उसे मैं देखता हूं। कुछ भीतर प्रज्वलित है जो शान्त होना चाहता है। और मनुष्य कितनी दिशाओं में खोजता है। शायद अनन्त जन्मों से उसकी यह खोज चलती है। किसी स्वर्ण मृग को खोजता उसका चित्त भटकता ही रहता है। पर हर चरण पर निराशा के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ नहीं आता है। कोई रास्ता पहुंचता हुआ नही प्रतीत होता है। गति होती है पर गन्तव्य आता हुआ नही दीखता है। क्या रास्ते कहीं भी नहीं ले जाते हैं?

इस प्रश्न का उत्तर नहीं देना है। जीवन स्वयं उत्तर है। क्या अनन्त मार्गों और दिशाओं में चलकर उत्तर नही मिल गया है?

क्या सच ही उत्तर नही मिल गया है?

बौद्धिक उत्तर खोजने मे, उसके धुयें मे, वास्तविक उत्तर खो जाता है। बुद्धि चुप हो तो अनुभूति बोलती है। विचार मौन हों तो विवेक जागृत होता है।

वस्तुतः जीवन के आधारभूत प्रश्नों के उत्तर नहीं होते हैं। समस्यायें हल नहीं होतीं गिर जाती हैं। केवल पूछने और शून्य हो जाने की बात है। बुद्धि केवल पूछ सकती है। समाधान उससे नहीं, शून्य से आता है।

समाधान शून्य से आता है। इस सत्य को जानते ही एक नये आयाम पर जीवन का उद्घाटन प्रारम्भ हो जाता है। चित्त की इस स्थिति का नाम समाधि है।

पूछें और चुप हो जावें। बिल्कुल चुप। और समाधान को आने

१८.

मैंने सुना है :

एक फकीर भीख मांगने निकला था। वह बूढ़ा हो गया था और आंख से उसे कम दिखता था। उसने एक मस्जिद के सामने आवाज लगाई थी। किसी ने उससे कहा : 'आगे बढ़। यह ऐसे आदमी का मकान नहीं है, जो तुझे कुछ दे सके।' फकीर ने कहा : 'आखिर इस मकान का मालिक कौन है, जो किसी को कुछ नहीं देता?' वह आदमी बोला : 'पागल, तुझे यह भी पता नहीं कि यह मस्जिद है। इस घर का मालिक स्वयं परमपिता परमात्मा है।'

फकीर ने सिर उठाकर मस्जिद पर एक नजर डाली और उसका हृदय एक जलती हुई प्यास से भर गया। कोई उसके भीतर बोला : 'अफसोस है इस दरवाजे से आगे बढ़ना। आखिरी दरवाजा आ गया : इसके आगे और दरवाजा कहां है?'

उसके भीतर एक संकल्प घना हो गया। अडिग चट्टान की भांति उसके हृदय ने कहा: 'यहां से खाली हाथ नहीं लौटूंगा। जो यहां से खाली हाथ लौट गये उनके भरे हाथों का क्या मूल्य है?'

वह उन्हीं सीढ़ियों के पास रुक गया। उसने अपने खाली हाथों को आकाश की तरफ फैला दिया। वह प्यासा था और प्यास ही प्रार्थना है।

दिन आये और गये। माह आये और गये। ग्रीष्म बीती, वर्षा बीती, सर्दियां भी बीत चलीं। एक वर्ष पूरा हो रहा था। उस बूढ़े के जीवन की म्याद भी पूरी हो गई थी। पर अन्तिम क्षणों में लोगों ने उसे नाचते देखा था।

उसकी आंखें एक अलौकिक दीप्ति से भर गई थीं। उसके वृद्ध शरीर से प्रकाश झर रहा था।

उसने मरने के पूर्व एक व्यक्ति से कहा था : 'जो मांगता है, उसे मिल जाता है। केवल अपने को समर्पित करने का साहस चाहिये।'

अपने को समर्पित करने का साहस।

अपने को मिटा देने का साहस।

शून्य होने का साहस।

जो मिटने को राजी है, वह पूरा हो जाता है। जो मरने को राजी है, वह जीवन को पा लेता है।

२०.

एक मंदिर पड़ोस में है। रात्रि वहां रोज ही भजन कीर्तन होने लगता है। धूप की तीव्र गंध उसके बंद प्रकोष्ट में भर जाती है, फिर आरती वंदन होता है। वाद्य बजते है। घंटों का निनाद होता है और ढोल भी पीटे जाते हे। फिर, पुजारी नृत्य करता है और क्रमशः भक्तगण भी नाचने लगते हैं।

यह देखने एक दिन मंदिर के भीतर गया था। जो देखा वह पूजा नहीं, मूर्च्छा थी। वह प्रार्थना के नाम पर आत्मविस्मरण था। अपने को भूलना दुःख विस्मरण देता है। जो नशा करता है, वही काम धर्म के ऐसे रूप भी कर देते हैं।

जीवन सताप को कौन नही भूलना चाहता है? मादक द्रव्य इसीलिये खोजे जाते है, मादक क्रिया कांड भी इसीलिये खोजे जाते हैं।

मनुष्य ने बहुत तरह की शराबे बनाई है। और, सबसे खतरनाक शराबें वे है, जो कि बोतलों मे बंद नही होती है।

दुख विस्मरण से दुख मिटता नहीं है। उसके बीज ऐसे नष्ट नही होते, विपरीत उनकी जड़े और मजबूत होती जाती हैं। दुख को भूलना नहीं, मिटाना होता है। उसे भूलना धर्म नही, वंचना है।

दुख विस्मरण का उपाय जैसे स्व-विस्मरण है, वैसे ही दुख विनाश का उपाय स्व-स्मरण है।

धर्म वह है जो स्व को परिपूर्ण जाग्रत करता है। धर्म के शेष सब रूप मिथ्या हैं। स्व स्मृति पथ है, स्व विस्मृति विपथ है। और, यह भी स्मरण रहे कि स्व विस्मृति से स्व मिटता नही है। वह उसकी प्रछन्न धारा प्रवाहित रहती है। स्व स्मृति से ही स्व विसर्जित होता

है। जो स्व को परिपूर्ण जानता है, वह स्व के विसर्जन को उपलब्ध हो, सर्व को पा लेता है। स्व के विस्मरण से नहीं, स्व के विसर्जन से सर्व की राह है।

प्रभु के स्मरण से स्व को भुलाना भूल है। स्व के बोध से स्व को मिटाना मार्ग है। और, जब स्व नहीं रह जाता है, तब जो शेष रह जाता है, वही प्रभु है।

प्रभु स्व के विस्मरण से नहीं, विसर्जन से उपलब्ध होता है।

२१.

सांझ से ही आधी-पानी है। हवाओं के थपेड़ों ने बड़े बड़े वृक्षों को हिला डाला है। बिजली बन्द हो गई है और नगर में अंधेरा है।

घर मे एक दीपक जलाया गया है।

उसकी लौ ऊपर की ओर उठ रही है। दिया भूमि का भाग है पर लौ न मालूम किसे पाने निरंतर ऊपर की ओर भागती रहती है?

इस लौ की भांति ही मनुष्य की चेतना भी है।

शरीर भूमि पर तृप्त है पर मनुष्य में शरीर के अतिरिक्त भी कुछ है जो निरंतर भूमि से ऊपर उठना चाहता है। यह चेतना ही, यह अग्नि-शिखा ही मनुष्य का प्राण है। यह निरंतर ऊपर उठने की उत्सुकता ही उसकी आत्मा है।

यह लौ है इसलिये मनुष्य, मनुष्य है अन्यथा सब मिट्टी है।

यह लौ पूरी तरह जले तो जीवन में क्रान्ति घटित हो जाती है। यह लौ पूरी तरह दिखाई देने लगे तो मिट्टी के बीच ही मिट्टी को पार कर लिया जाता है।

मनुष्य एक दिया है। मिट्टी भी है उसमें पर ज्योति भी है। मिट्टी पर ही ध्यान रहा तो जीवन व्यर्थ हो जाता है। ज्योति पर ध्यान जाना चाहिये। ज्योति पर ध्यान जाते ही सब कुछ परिवर्तित हो जाता है। क्योंकि तब मिट्टी में ही प्रभु के दर्शन हो जाते हैं।

२२.

सुबह जा चुकी है। धूप गर्म हो रही है और मन छाया में चलने का है।

एक वृद्ध अध्यापक आये हैं। वर्षों से साधना में लगे हैं। तन सूखकर हड्डी-हड्डी हो गया है और आंखें धूमिल हो गई हैं और गड्ढों में खो गई हैं। लगता है कि अपने को बहुत सताया है और उस आत्म-पीड़न को ही साधना समझा है।

प्रभु के मार्ग पर चलने को जो उत्सुक होते हैं, उनमें से अधिक का जीवन इसी भूल से विषाक्त हो जाता है। प्रभु को पाना, संसार के निषेध का रूप ले लेता है और आत्मा की साधना शरीर को नष्ट करने का। यह नकार दृष्टि उन्हें नष्ट कर देती है और उन्हें ख्याल भी नहीं आ पाता है कि पदार्थ का विरोध परमात्मा के साक्षात् का पर्यायवाची नहीं है।

सच तो यह है कि देह के उत्पीड़क देहवादी ही होते हैं और संसार के विरोधी बहुत सूक्ष्मरूप से संसार से ही ग्रसित होते हैं।

संसार के प्रति भोग दृष्टि जितना संसार से बांधती है, विरोध दृष्टि उससे कम नहीं, ज्यादा ही बांधती है।

संसार और शरीर का विरोध नहीं, अतिक्रमण करना साधना है। और यह दिशा न भोग की है और न दमन की है। वह दिशा दोनों से भिन्न है। वह तीसरी दिशा है। वह दिशा संयम की है। दो बिंदुओं के बीच मध्य बिंदु खोज लेना संयम है। पूर्ण मध्य में जो है, वह अतिक्रमण है। वह कहने को ही मध्य में है, वस्तुतः वह दोनों के अतीत है। भोग और दमन के जो पूर्ण मध्य में है, वह कुछ भोग और कुछ दमन नहीं है। वह न भोग है और न दमन है। वह समझौता नहीं, संयम है।

अति असंयम है : मध्य संयम है। अति विनाश है, मध्य जीवन है। जो अति को पकड़ता है, वह नष्ट हो जाता है। भोग और दमन दोनों जीवन को नष्ट कर देते है। अति ही अज्ञान है और अहंकार है और मृत्यु है।

मै संयम और संगीत को साधना कहता हूं। वीणा के तार जब न ढीले होते है, और न कसे ही होते है, तब संगीत पैदा होता है। बहुत ढीले तार भी व्यर्थ हे और बहुत कसे तार भी व्यर्थ है। पर तारों की एक ऐसी भी स्थिति होती है, जब ये न कसे कहे जा सकते है न ढीले कहे जा सकते है। वह बिन्दु ही उनमें संगीत के जन्म का बिन्दु बनता है। जीवन में भी वही बिन्दु संयम का है। जो नियम संगीत का है, वही संयम का भी है। संयम से सत्य मिलता है।

संयम की यह बात उनसे कही है और लगता है कि जैसे उसे उन्होंने सुना है। उनकी आंखे गवाही हैं। जैसे कोई सोकर उठा हो, ऐसा उनकी आंखो मे भाव है। वे शान्त और स्वस्थ प्रतीत हो रहे हैं। कोई तनाव जैसे शिथिल हो गया है और कोई दर्शन उपलब्ध हुआ है।

मै जाते समय उनसे कहा हूं : 'सब तनाव छोड़ दें और फिर देखें। भोग छोड़ा है, दमन भी छोड़ दें। छोड़कर सब छोड़कर देखे। सहज होकर देखे सहजता ही स्वस्थ्य करती है, स्वभाव में ले जाती है।'

उन्होंने उत्तर में कहा : 'छोड़ने को अब क्या रहा ? छूट ही गया। मै शान्त और निर्भार होकर जा रहा हूं। एक दुख स्वप्न जैसे टूट गया है। मै बहुत उपकृत हूं।' और उनकी आंखें बहुत सरल और शान्त हो गई हैं और उनकी मुस्कुराहट बहुत भली लग रही है। वे वृद्ध हैं, पर बिल्कुल बालक लग रहे हैं।

काश, यह उन सभी को दीख सके जो प्रभु में उत्सुक होते हैं।

२३.

सत्य को पाना है? तो मन को छोड़ दो। मन के न होते ही सत्य आविष्कृत हो जाता है, वैसे ही जैसे किसी ने द्वार खोल दिये हों, और सूर्य का प्रकाश भीतर आ गया हो। सत्य के आगमन को मन दीवार की भांति रोके हुये है। मन की इस दीवार की ईंटें विचारों से बनी हैं। विचार-विचार और विचार-विचारों की यह शृंखला ही मन है। रमण ने किसी से कहा था : 'विचारों को रोक दो और फिर मुझे बताओ कि मन कहां है?'

विचार जहां नहीं है, वहां मन नहीं है। ईंटें न हों, तो दीवार कैसे होगी?

एक साधु रात्रि आये थे। पूछते थे : 'मन के साथ क्या करूं?' मैंने कहा : 'कुछ भी न करो। मन को छोड़ दो और देखो। उसे बिल्कुल छोड़ दो और बस देखते रहो। जैसे कोई नदी के किनारे बैठकर जल प्रवाह को देखता है। ऐसे ही विचार प्रवाह को देखो अलिप्त और असंग। देखते रहो और देखते रहो। उस देखने के आघात से विचार शून्य हो जाते हैं और मन नहीं पाया जाता है।'

और मन के हटते ही उसके रिक्त स्थान में जिसका अनुभव होता है वही आत्मा है। वही सत्य है, क्योंकि वही सत्ता है।

२४.

एक सर्द और अंधेरी रात्रि में एक साधु किसी मंदिर में ठहरा था। उसने सर्दी दूर करने को भगवान की एक काष्ठ मूर्ति जला ली। आग जली देख पुजारी जागा था। उसने मूर्ति को जलते देखा तो अवाक् रह गया। वह क्रोध में कुछ बोल भी नहीं सका यह कृत्य ऐसा ही असोचनीय था। और तभी उसने देखा : साधु जली राख के ढेर में से कुछ खोज रहा है। उसने पूछा कि यह क्या कर रहे हो। साधु ने कहा : 'भगवान की देह की अस्थियां खोजता हूं।' अब पुजारी के समक्ष उस साधु का पागलपन पूरी तरह स्पष्ट हो गया था। उसने साधु को कहा : 'पागल, लकड़ी में अस्थियां कहां रखीं हैं ?' वह साधु बोला : 'तब एक मूर्ति और लाने की कृपा करो, रात बहुत सर्द है और बहुत लम्बी भी है।'

मैं इस कथा को सोचता हूं और लगता है कि वह पागल साधु मैं ही हूं।

मैं चाहता हूं कि हम मूर्तियों से मुक्त हो सकें ताकि जो अमूर्त है, उसके दर्शन संभव हों। रूप पर जो रुका है, वह अरूप पर नहीं पहुंच पाता है। और आकार जिसकी दृष्टि में है, वह निराकार सागर में कैसे कूदेगा ? और वह जो दूसरे की पूजा में है, वह अपने पर आ सके यह कैसे संभव है ? मूर्त को अग्नि दो ताकि अमूर्त ही अनुभूति में शेष रहे और आकार की वदलियों को विसर्जित होने दो ताकि निराकार आकाश उपलब्ध बने और रूप को बहने दो ताकि नौका अरूप के सागर में पहुंचे। जो सीमा के तट से अपनी नौका छोड़ देता है, वह अवश्य ही असीम को पहुंचता और असीम हो जाता है।

२५.

प्रार्थना क्या है ? आत्म-विस्मरण । नहीं, प्रार्थना आत्म-विस्मरण नहीं है । वह, जिसमें भूलना-डूबना और खोना है, मादकता का ही एक रूप है। वह उपाय प्रार्थना नहीं, पलायन है। शब्द में, संगीत में खोया जा सकता है । ध्वनि सम्मोहन में, नृत्य में जो है उसका विस्मरण हो सकता है । यह विस्मरण और बेहोशी सुखद भी मालूम हो सकती है, पर यह प्रार्थना नहीं है । यह मूर्च्छा है जब कि प्रार्थना सम्यक् चैतन्य में जागरण का नाम है ।

प्रार्थना क्या कोई क्रिया है ? कुछ करना प्रार्थना है ?

नहीं, प्रार्थना क्रिया नहीं, वरन् चेतना कि एक स्थिति है । प्रार्थना की नहीं जाती है, प्रार्थना में हुआ जाता है । प्रार्थना मूलतः अक्रिया है । जब सब क्रियायें शून्य हैं, और केवल साक्षी चैतन्य शेष रह गया है, ऐसी स्थिति का नाम प्रार्थना है । प्रार्थना शब्द से करने की ध्वनि निकलती है, ध्यान शब्द से भी करने की ध्वनि निकलती है, पर ये दोनों शब्द क्रियाओं के लिये नहीं, चेतना स्थितिके लिये प्रयुक्त हुये हैं : शून्य में, मौन में, निःशब्द में होना प्रार्थना है, ध्यान है ।

एक प्रार्थना सभा में कल यह कहा हूँ ।

किसी ने बाद में पूछा: 'फिर हम क्या करें ?'

मैं कहा: थोड़े समय को कुछ भी न करें । बिल्कुल विश्राम में अपने को छोड़ दें । शरीर व मन दोनों को चुप हो जाने दें । चुपचाप मन को देखते रहें, वह अपने से शांत और शून्य हो जाता है । इसी शून्य में, सत्य का सान्निध्य उपलब्ध होता है । इसी शून्य में वह प्रगट होता है जो भीतर है और वह भी जो बाहर है । फिर बाहर और भीतर मिट जाते हैं और केवल वही रह जाता है जो है । इस शुद्ध 'है' कि समग्रता का नाम ही ईश्वर है ।

२६.

सन्ध्या बीती है। कुछ लोग आये हैं। वे कहते हैं कि मैं शून्य सिखाता हूं पर शून्य के तो विचार से ही भय लगता है। क्या कोई सहारा और आधार नहीं हो सकता है?

मैं उनसे कहता हूं कि शून्य में कूदने में अवश्य साहस की जरूरत है, पर जो कूद जाते हैं, वे शून्य को नहीं, पूर्ण को पाते हैं। और जो कोई कल्पित सहारा और आधार पकड़े रहते हैं, वे शून्य में ही अटके रहते हैं। कल्पनाओं के सहारे और आधार क्या कोई सहारे और आधार हैं?

सत्य का सहारा और आधार केवल शून्य से ही मिलता है। शून्य होने का अर्थ कल्पनाओं के सहारों और आधारों से ही शून्य होना है।

एक कहानी उनसे कहता हूं:

'एक अमावस की अंधेरी रात्रि में, पर्वतीय निर्जन से गुजरते एक अजनबी यात्री ने पाया कि वह किसी खड्ड में गिर गया है। उसके पैर चट्टान से फिसल गये हैं, और वह एक झाड़ी को पकड़कर लटक गया है। चारों ओर अंधकार है। नीचे भी अंधकार और भयंकर खड्ड है। घंटों वह उस झाड़ी को पकड़े लटका रहा। और उसने इन घंटों में संभावी मृत्यु की बहुत पीड़ा सही। सर्दी की रात्रि थी फिर क्रमशः उसके हाथ ठंडे और जड़ हो गये। और अंततः उसके हाथों ने जवाब दे दिया। उसे उस भयंकर खड्ड में गिरना ही पड़ा। उसकी कोई चेष्टा सफल नहीं हो सकी। और उसने अपनी आंखों को मृत्यु के

मुंह में जाते देखा। वह गिरा पर—गिरा नहीं। वहां खड्ड था ही नहीं। गिरते ही उसने पाया कि वह जमीन पर खड़ा है।'

ऐसा ही मैंने भी पाया है। शून्य में गिरकर पाया कि शून्य ही भूमि है। चित्त के सब आधार जो छोड़ देता है, वह प्रभु का आधार पा जाता है। शून्य होने का पुरुषार्थ ही एकमात्र पुरुषार्थ है और जो शून्य होने को शक्ति नहीं जुटा पाते हैं, वे शून्य ही बने रह जाते हैं।

२७.

सुबह घूमकर लौटता था। नदी तट पर एक छोटे से झरने से मिलना हुआ। राह के सूखे पत्तों को हटाकर वह छोटा सा झरना नदी की ओर भाग रहा था। उसकी दौड़ देखी और फिर नदी में उसका आनंद पूर्ण मिलन भी देखा। फिर देखा कि नदी भी भाग रही है।

और, फिर देखा कि सब कुछ भाग रहा है। सागर से मिलने के लिये, असीम में खोने के लिये, पूर्ण को पाने के लिये समस्त जीवन ही, राह के सूखे मृत पत्तों को हटाता हुआ, भागा जा रहा है।

बूंद सागर होना चाहती है : यही सूत्र समस्त जीवन का ध्येय सूत्र है। उसके आधार पर ही सारी गति है और उसकी पूर्णता में ही आनंद है। सीमा दुख है, अपूर्णता दुख है। जीवन सीमा के, अपूर्णता के समस्त अवरोध के पार उठना चाहता है। उनके कारण उसे मृत्यु झेलनी पडती है। उनके अभाव में वह अमृत है। उनके कारण वह खंड है, उनके अभाव में वह अखंड हो जाता है।

पर, मनुष्य अहं की बूंद पर रुक जाता है और वहीं वह जीवन के अनंत प्रवाह से खंडित हो जाता है। इस भांति वह अपने ही हाथों सूरज को खोकर एक क्षीणकाय दिये की लौ में तृप्ति खोजने का निरर्थक प्रयास करता है। वह तृप्ति नहीं मिल सकती है, क्योंकि बूंद-बूंद बनी रहकर कैसे तृप्त हो सकती है? **सागर हुये बिना कोई राह नहीं है।** सागर ही गन्तव्य है। **सागर होना ही होगा।** बूंद को खोना जरूरी है। अहं को मिटाना जरूरी है। अहं ब्रह्म बने तभी संतृप्ति संभव है।

सागर होने की संतृप्ति ही सत्य में प्रतिष्ठित करती है। और

यह संतृप्ति ही मुक्त करती है, क्योंकि जो संतृप्त नहीं है, वह मुक्त कैसे हो सकता है ?

जीसस क्राइस्ट ने कहा है : 'जो जीवन को बचाता है, वह उसे खो देता है और जो उसे खो देता है, वह उसे पा जाता है।'

यही मुझे भी कहने दें। यही प्रेम है। अपने को खो देना ही प्रेम है। प्रेम की मृत्यु को अंगीकार करना ही, प्रभु के जीवन को पाने का उपाय है।

इसलिये, मैं कहता हूं, बूंदो; सागर की ओर चलो। सागर ही गन्तव्य है। प्रेम की मृत्यु को वरण करो, क्योंकि वही जीवन है। जो सागर के पहले ठहर जाता है, वह मर जाता है और जो सागर में पहुंच जाता है वह मृत्यु के पार पहुंच जाता है।

२७.

सुबह घूमकर लौटता था । नदी तट पर एक छोटे से झरने में मिलना हुआ । राह के सूखे पत्तों को हटाकर वह छोटा सा झरना नदी की ओर भाग रहा था । उसकी दौड़ देखी और फिर नदी में उसका आनंद पूर्ण मिलन भी देखा। फिर देखा कि नदी भी भाग रही है ।

और, फिर देखा कि सब कुछ भाग रहा है । सागर से मिलने के लिये, असीम मे खोने के लिये, पूर्ण को पाने के लिये समस्त जीवन ही, राह के सूखे मृत पत्तों को हटाता हुआ, भागा जा रहा है ।

बूंद सागर होना चाहती है . यही सूत्र समस्त जीवन का ध्येय सूत्र है । उसके आधार पर ही सारी गति है और उसकी पूर्णता में ही आनंद है । सीमा दुख है, अपूर्णता दुख है । जीवन सीमा के, अपूर्णता के समस्त अवरोध के पार उठना चाहता है । उनके कारण उसे मृत्यु झेलनी पडती है । उनके अभाव में वह अमृत है । उनके कारण वह खंड है, उनके अभाव मे वह अखंड हो जाता है ।

पर, मनुष्य अहं की बूंद पर रुक जाता है और वही वह जीवन के अनंत प्रवाह से खंडित हो जाता है । इस भांति वह अपने ही हाथों सूरज को खोकर एक क्षीणकाय दिये की लौ में तृप्ति खोजने का निरर्थक प्रयास करता है । वह तृप्ति नही मिल सकती है, क्योंकि बूंद-बूंद बनी रहकर कैसे तृप्त हो सकती है? **सागर हुये बिना कोई राह नहीं है।** सागर ही गन्तव्य है । **सागर होना ही होगा।** बूंद को खोना जरूरी है । अहं को मिटाना जरुरी है । अहं ब्रह्म बने तभी संतृप्ति संभव है ।

सागर होने की संतृप्ति ही सत्य मे प्रतिष्ठित करती है । और

वह संतृप्ति ही मुक्त करती है, क्योंकि जो संतृप्त नहीं है, वह मुक्त कैसे हो सकता है ?

जीसस क्राइस्ट ने कहा है : 'जो जीवन को बचाता है, वह उसे खो देता है और जो उसे खो देता है, वह उसे पा जाता है।'

यही मुझे भी कहने दें। यही प्रेम है। अपने को खो देना ही प्रेम है। प्रेम की मृत्यु को अंगीकार करना ही, प्रभु के जीवन कोप ाने का उपाय है।

इसलिये, मैं कहता हूं, बूंदो; सागर की ओर चलो। सागर ही गन्तव्य है। प्रेम की मृत्यु को वरण करो, क्योंकि वही जीवन है। जो सागर के पहले ठहर जाता है, वह मर जाता है और जो सागर में पहुंच जाता है वह मृत्यु के पार पहुंच जाता है।

२८.

एक वार ऐसा हुआ । किसी साधु का शिष्य मर गया था । वह साधु उस शिष्य के घर गया । उसके शिष्य की लाश रखी थी और लोग रोते थे । उस साधु ने जाकर जोर से पूछा : 'यह मनुष्य मृत है या कि जीवित है? (Is the man dead or alive?) इस प्रश्न से लोग बहुत चौंके और हैरान हुये । यह कैसा प्रश्न था ? लाश सामने थी और पूछने की बात ही क्या थी ?

थोड़ी देर सन्नाटा रहा और फिर किसी ने साधु से कहा : 'आप ही बतावें ?'

और जानते हैं कि साधु ने क्या कहा ? साधु ने कहा : 'जो मृत था, वह मृत है, जो जीवित था, वह अभी भी जीवित है केवल दोनों का संबंध मात्र टूट गया है ।'

जीवन की कोई मृत्यु नहीं होती है और मृत का कोई जीवन नहीं होता है ।

जीवन को जो नहीं जानते हैं, वे मृत्यु को जीवन का अंत कहते हैं । जन्म जीवन का प्रारम्भ नहीं है और मृत्यु उसका अंत नहीं है । जीवन जन्म और मृत्यु के भीतर भी है और बाहर भी है । वह जन्म के पूर्व भी है और मृत्यु के पश्चात् भी है । उसका ही जन्म है, उसकी ही मृत्यु है, पर न उसका कोई जन्म है, न उसकी कोई मृत्यु है ।

एक शवयात्रा से लौटा हूं । वहां चिता की लपटें जलीं तो लोग बोले : सब समाप्त हो गया । मैंने कहा : 'आंखें नहीं हैं, इसलिये ऐसा लगता है ।'

२९.

एक यात्रा से लौटा हूं। जहां गया था, वहां बहुत से साधु साध्वियों से मिलना हुआ। साधना तो बिल्कुल नहीं है और साधु बहुत हैं। सब तरफ कागज-ही-कागज के फूल दिखाई देते हैं।

साधना के अभाव में धर्म असंभव है। फिर, धर्म के नाम से जो चलता है, उसमें अधर्म का ही पोषण होता है। धर्म ऊपर, अधर्म भीतर होता है। और यह स्वाभाविक ही है। जिन पौधों में जड़ें नहीं हैं, वे ऊपर से खोंसे हुये ही होंगे किसी उत्सव में उनसे शोभा बन सकती है, पर उन पौधों में फूल और फल तो नहीं लग सकते हैं?

धर्म की जड़ें साधना में हैं, योग में है। योग के अभाव में साधु का जीवन या तो मात्र अभिनय हो सकता है या फिर दमन हो सकता है। दोनों ही बातें शुभ नहीं। सदाचरण का मिथ्या अभिनय पाखंड है। और, दमन भी घातक है। उसमें संघर्ष तो है, पर उपलब्धि कोई नहीं। जिसे दबाया है, वह मरता नहीं, वरन् और गहरी पर्तों पर सरक जाता है।

एक ओर वासना की पीडायें हैं उनकी ज्वालाओं में उत्तप्त और ज्वरग्रस्त जीवन है तृष्णा की दुष्पूर दौड़ का दुख है और दूसरी ओर दमन और आत्म उत्पीडन की अग्नि शिखायें हैं। एक ओर के कुयें से जो बचता है, वह दूसरी ओर की खाई में गिर जाता है।

योग न भोग है, न दमन है। वह तो दोनों से जागरण है। अतियों के द्वन्द में से किसी को भी नहीं पकड़ना है। द्वन्द का कोई भी पक्ष द्वन्द के बाहर नहीं ले जा सकता है। उनके बाहर जाना, उनमें से किसी को भी चुनकर नहीं हो सकता है। जो उनमें से किसी को भी

चुनता और पकड़ता है, वह उनके द्वारा ही चुन और पकड़ लिया जाता है ।

योग किसी को पकड़ना नहीं है, वरन् समस्त पकड़ को छोड़ना है । किसी के पक्ष मे किसी को नहीं छोड़ना है बस, बिना किसी पक्ष के निष्पक्ष ही सब पकड़ छोड़ देनी है । पकड़ ही भूल है । वही कुये या खाई मे गिरा देती है । वही अतियों में और द्वन्दों में और संघर्षों मे ले जाती है, जबकि मार्ग वहां है, जहां कोई अति नहीं है,-जहा कोई दुई नही है, जहां कोई संघर्ष नही है । चुनाव न करें, वरन् चुनाव करनेवाली चेतना में प्रतिष्ठित हों । द्वन्द में न पड़ें वरन् द्वन्द को देखने वाले ज्ञान में स्थिर हों । उसमें प्रतिष्ठा ही प्रज्ञा है और वह प्रज्ञा ही प्रकाश में जाने का द्वार है ।

वह द्वार निकट है और जो अपनी चेतना की लौ को द्वन्दों की आंधियों से मुक्त कर लेते हैं, वे उस कुंजी को पा लेते हैं, जिससे सत्य का वह द्वार खुलता है ।

३१.

मैं साधकों को देखता हूँ तो पाता हूँ कि वे सब मन को साधने में लगे हैं। मन को साधने से सत्य नहीं मिलता है, विपरीत वही तो सत्य के अनुभव में अवरोध है। मन को साधना नहीं, विसर्जित करना है। मन को छोड़ो तब द्वार मिलता है। धर्म मन में या मन से उपलब्ध नहीं होता। वह अ-मन की स्थिति में उपलब्ध होता है।

मा-त्सु साधना में था। वह अपने गुरु आश्रम के एक एकांत झोपड़े मे रहता और अहर्निश मन को साधने का अभ्यास करता। जो उसे मिलने भी आते, उनकी ओर भी वह कभी कोई ध्यान नहीं देता था।

उसका गुरु एक दिन उसके झोपड़े पर गया। मा-त्सु न उसकी ओर भी कोई ध्यान नहीं दिया। पर उसका गुरु दिन भर वही बैठा रहा और एक ईंट को पत्थर पर घिसता रहा। मा-त्सु से अंततः न रहा गया और उसने पूछा: 'आप यह क्या कर रहे हैं?' गुरु ने कहा: 'इस ईंट का दर्पण बनाना है।' मा-त्सु ने कहा: 'ईंट का दर्पण पागल हुये हैं—जीवन भर भी घिसने पर नही बनेगा। 'यह सुन गुरु हँसने लगा और उसने मा-त्सु को पूछा: 'तब तुम क्या कर रहे हो? ईंट दर्पण नहीं बनेगी, तो क्या मन दर्पण बन सकता है? ईंट भी दर्पण नहीं बनेगी, मन भी दर्पण नही बनेगा। मन ही तो धूल है जिसने दर्पण को ढांका है। उसे छोड़ों और अलग करो तब सत्य उपलब्ध होता हैं।'

विचारों का संग्रह मन है और विचार बाहर से आये धूलिकण हैं। उन्हें अलग करना है। उनके हटने पर जो शेष रह जाता है, वह निर्दोष चैतन्य सदा से ही निर्दोष है। निर्विचार, इस अ-मन की

स्थिति में उस सनातन सत्य के दर्शन होते हैं, जो कि विचारों के धुंए में छिप गया होता है।

विचारों का धुआं न हो तो फिर चेतना की निर्धूम ज्योति शिखा ही शेष रह जाती है। वही पाना है, वही होना है। साधना का साध्य वही है।

३२.

सुबह थी, फिर दोपहर आई अब सूरज डूबने को है। एक सुन्दर सूर्यास्त पश्चिम पर फैल रहा है।

मैं रोज दिन को उगते देखता हूँ, दिन को छाते देखता हूँ, दिन को डूबते देखता हूँ। और फिर यह भी देखता हूँ कि न तो मैं उगा, न मैंने दोपहर पाई और न ही मैं अस्त पाता हूँ।

कल यात्रा से लौटा तो यही देख रहा था। सब यात्राओं में ऐसा ही अनुभव होता है। राह बदलती है पर राही नहीं बदलता है। यात्रा तो परिवर्तन है पर यात्री अपरिवर्तित मालूम होता है।

कल कहां था, आज कहां हूं : अभी क्या था, अब क्या है... पर जो मैं कल था वही आज भी हूं, जो मैं अभी था, वही अब भी हूं।

शरीर वही नहीं है, मन वही नहीं है, पर मैं वही हूं।

दिक् और काल में परिवर्तन है पर 'मैं' में परिवर्तन नहीं है।

सब प्रवाह है पर यह "मैं" प्रवाह का अंग नहीं है। यह उनमें होकर भी उनसे बाहर और उनके अतीत है।

यह नित्य यात्री... यह चिर नूतन, चिर-परिचित यात्री ही आत्मा है। परिवर्तन के जगत् में इस अपरिवर्तित के प्रति जाग जाना ही मुक्ति है।

मैं तुम्हें देखता हूं : तुम्हारे पार जो है उसे भी देखता हूं। शरीर पर जो रुक जावें वे आंखें देखती ही नहीं हैं। शरीर कितना पारदर्शी है। मन ही, देह कितनी ही ठोस क्यों न हो उसे तो नहीं ही छिपा पाती है जो कि पीछे है।

पर, आंख ही न हों तो बात दूसरी है। फिर तो सूरज भी नहीं है। सब खेल आंखों का है। विचार और तर्क से कोई प्रकाश को नहीं जानता है।

वास्तविक आंख की पूर्ति किसी अन्य साधन से नहीं हो सकती है। आंख चाहिये। आत्मिक को देखने के लिये भी आंख चाहिये एक अंतर्दृष्टि चाहिये। वह है तो सब है। अन्यथा, न प्रकाश है, न प्रभु है।

और जो दूसरे की देह के पार की सत्ता को देखना चाहे उसे पहले अपनी पार्थिव सत्ता के अतीत झांकना होता है।

जहां तक मैं अपने गहरे में देखता हूं, वहीं तक अन्य देह भी पारदर्शी हो जाती है। जितनी दूर तक मैं अपनी जड़ता में चैतन्य का आविष्कार कर लेता हूं उतनी ही दूर तक समस्त जड़ जगत मेरे लिये चैतन्य से भर जाता है। जो मैं हूं, जगत भी वही है। जिस दिन मैं समग्रता में अपने चैतन्य को जान लूं : उसी दिन जगत नहीं रह जाता है।

स्व-अज्ञान संसार है : आत्मज्ञान मोक्ष है।

इससे रोज कह रहा हूं : इससे प्रत्येक से कह रहा हूं : एक बार देखो कि कौन तुम्हारे भीतर बैठा हुआ है? इस हड्डी मांस की

देह में कौन आच्छादित है ? कौन है आबद्ध तुम्हारे इस बाह्य रूप में ?

इस क्षुद्र मे कौन विराट विराजमान है ?

कौन है यह चैतन्य ? क्या है यह चैतन्य ?

यह पूछे बिना : यह जाने बिना जीवन सार्थक नहीं है । मैं सब कुछ जान लू स्वयं को छोड़कर तो उस ज्ञान का कोई भी मूल्य नहीं है ।

जिस शक्ति से पर जाना जाता है वह शक्ति स्वयं को भी जानने में समर्थ है । जो अन्य को जान सकती है वह स्वयं को कैसे नहीं जानेगी ?

केवल दिशा परिवर्तन की बात है ।

जो दीख रहा है उससे उस पर चलना है जो कि देख रहा है । दृश्य पर ध्यान परिवर्तन आत्मज्ञान की कुंजी है ।

विचार प्रवाह मे उस पर जागो जो उनका भी साक्षी है ।

और, एक क्रान्ति घटित हो जाती है । कोई अवरुद्ध झरना जैसे फूट पड़ा हो, ऐसे ही चैतन्य की धारा जीवन से समस्त जड़ता को बहा ले जाती है ।

कल संध्या तक एक फूल के पौधे में प्राण थे। उसकी जड़ जमीन में थी और उसके पत्तों में जीवन था। उसमें हरियाली थी और चमक थी। हवा में वह डोलता था तो उसमें आनन्द झरता था। उसके पास से मैं अनेक बार गुजरा था और उसके जीवन संगीत को अनुभव किया था।

फिर कल यह हुआ कि किसी ने उसे खींच दिया, उसकी जड़ें हिल गईं और आज जब मैं उसके पास गया तो पाया कि उसकी सांसें टूट गई हैं। जमीन से जड़ हट जाने पर ऐसा ही होता है। सारा खेल जड़ों का है। वे दीखती नहीं, पर सारा रहस्य जीवन का उन्हीं में है।

पौधों की जड़ें होती हैं। मनुष्य की भी जड़ें होती हैं। पौधों की जमीन है, मनुष्य की भी जमीन है। पौधे जमीन से जड़ें हटाते ही सूख जाते हैं। मनुष्य भी सूख जाता है।

आल्बेयर कामू की एक पुस्तक पढ़ता था। उसकी पहली पंक्ति है कि आत्म हत्या एकमात्र महत्वपूर्ण दार्शनिक समस्या है'

क्यों? क्योंकि अब मनुष्य को जीवन में कोई प्रयोजन नहीं मालूम होता है। सब व्यर्थ और सब निष्प्रयोजन हो गया है।

यह हुआ है कि हमारी जड़े हिल गई हैं, यह हुआ है कि उस मूल जीवन स्त्रोत से हमारे संबंध टूट गये हैं जिसके अभाव में कि जीवन एक व्यर्थ की कहानी मात्र रह जाता है।

मनुष्य को पुनः जड़ें देनी हैं और मनुष्य को पुनः जमीन देनी है। वे जड़ें आत्मा की हैं और वह जमीन धर्म की है। इतना हो सके तो मनुष्यता में फिर से फूल आ सकते हैं।

३५.

एक परिवार मे आमंत्रित था। संध्या गये वहाँ से लौटा हूं। एक मीठी घटना वहां घटी। बहुत बच्चे उस घर में थे। उनने एक तारा के पत्तों का महल बनाया था। मुझे दिखाने ले गये। सुन्दर था। मैंने प्रशंसा की। गृहणी बोली "ताश के पत्तों के महल की भी क्या प्रशंसा। जरा-सा हवा का झोंका सब मिट्टी कर देता है।"

मै हंसने लगा तो बच्चों ने पूछा "क्यों हसते हैं?" यह बात ही होती थी कि महल भर-भरा कर गिर गया। बच्चे उदास हो गये। गृहणी बोली : 'देखा'। मैंने कहा : 'देखा, पर मैंने और महल भी देखे हैं, और सब महल ऐसे ही गिर जाते हैं। पत्थर के ठोस महल भी पत्तों के ही महल है। बच्चों के ही नही, बूढ़ों के महल भी पत्तों के महल ही होते है। हम सब महल बनाते हैं। कल्पना और स्वप्नों के महल और फिर हवा का एक झोंका सब मिट्टी कर जाता है। इस अर्थ में हम सब बच्चे हैं। प्रौढ़ होना कभी-कभी होता है। अन्यथा अधिक लोग बच्चे ही मर जाते है।"

सब महल तास के महल है। यह जानने से व्यक्ति प्रौढ़ हो जाता है। फिर भी वह बनाने मे संलग्न हो सकता है पर तब सब अभिनय होता है।

यह जानना कि जगत अभिनय है, जगत से मुक्त हो जाना है।

इस स्थिति में जो पाया जाता है वही भर किसी झोंके से नष्ट नहीं होता है।

कल रात्रि पानी पड़ा है। मौसम गीला है और अभी-अभी फिर धीमी फुहार आनी शुरू हुई है। हवायें नम हो गई हैं और वृक्षों से गिरते पत्तों को द्वार तक ला रही हैं। लगता है पतझड़ हो रही है और वसंत के आगमन की तैयारी है। रास्ते पत्तों से ढंक रहे हैं और उन पर चलने में सूखे पत्ते मधुर आवाज करते हैं।

मैं उन पत्तों को देर तक देखता रहा हूं। जो पक जाता है वह गिर जाता है। पत्तों पर पत्ते सुबह से शाम तक गिर रहे हैं। पर वृक्षों को उनके गिरने से कोई पीड़ा नहीं हो रही है। इससे जीवन का एक अद्‌भुत नियम समझ में आता है। कुछ भी कच्चा तोड़ने में कष्ट है। पकने पर टूटना अपने से हो जाता है।

एक सन्यासी आये हैं। त्याग उन्हें आनन्द नहीं बन पाया है। वह कष्ट है और कठिनाई है। सन्यास अपने से नहीं आया, लाया गया है। मोह के, अज्ञान के, परिग्रह, अहंकार के पत्ते अभी कच्चे थे। जबरदस्ती की है—पत्ते तो टूट गये पर पीड़ा पीछे छोड़ गये हैं। वह पीड़ा शान्ति नहीं आने देती है। सोचता हूं कि आज शाम जाकर पके पत्तों के टूटने का रहस्य उन्हें बता आऊं। सन्यास पहले नहीं है। ज्ञान है प्रथम। उसकी आंच में संसार पके पत्तों की भांति गिर जाता है। सन्यास लाया नहीं जाता, पाया जाता है।

ज्ञान की क्रान्ति के बाद त्याग कष्ट नहीं, आनन्द हो जाता है।

३७.

ज्ञान और ज्ञान में भेद है। एक ज्ञान है केवल जानना, जानकारी बौद्धिक समझ और एक ज्ञान है अनुभूति, प्रज्ञा जीवन्त प्रतीति। एक मृत तथ्यों का संग्रह है, एक जीवित सत्य का बोध है। दोनों में बहुत अंतर है : भूमि और आकाश का : अंधकार और प्रकाश का। वस्तुत: बौद्धिक ज्ञान कोई ज्ञान ही नही है। वह ज्ञान का भ्रम है। क्या अंधे व्यक्ति को प्रकाश का कोई ज्ञान हो सकता है? बौद्धिक ज्ञान वैसा ही ज्ञान है।

ऐसे ज्ञान का भ्रम अज्ञान को ढाक लेता है। वह आवरण मात्र है। उसके शब्द जाल और विचारों के धुयें मे अज्ञान विस्मृत हो जाता है। यह अज्ञान से भी घातक है, क्योंकि अज्ञान दीखता हो तो उससे ऊपर उठने की आकांक्षा तो पैदा होती है। पर वह न दीखे तो उससे मुक्त होना संभव ही नही रह जाता है।

तथाकथित ज्ञानी अज्ञान मे ही नष्ट हो जाते है।

ज्ञान–सत्य ज्ञान बाहर से नहीं आता है। और जो बाहर से आये, जानना कि वह ज्ञान नहीं है, मात्र जानकारी ही है। ऐसे ज्ञान के भ्रम में गिरने से सावधानी रखनी आवश्यक है।

जो भी बाहर से आता है, वह स्वयं पर और पर्दा बन जाता है।

ज्ञान भीतर से जागता है। वह आता नहीं, जागता है और उसके लिये पर्दे बनाने नहीं, तोड़ने होते हैं।

ज्ञान को सीखना नहीं होता है। उसे उघाड़ना होता है। सीखा हुआ ज्ञान, जानकारी है, उघाड़ा हुआ ज्ञान अनुभूति है।

और, जिस ज्ञान को सीखा जावे, उसके अनुसार जीवन को जबर-

दम्नी डालना पड़ना है, फिर भी वह कभी संपूर्णतया उसके अनुकूल नहीं हो पाता है और उस ज्ञान और जीवन में एक अंतर्द्वन्द बना ही रहता है।

पर जो ज्ञान उघाड़ा जाता है, उसके आगमन से ही आचरण सहज उसके अनुकूल हो जाता है। सत्य ज्ञान के विपरीत जीवन का होना एक असंभावना है। वैसा आज तक धरा पर कभी भी नहीं हुआ है।

एक कथा स्मरण आती है। एक घने वन के बीहड़ पथ पर दो मुनि थे। शरीर की दृष्टि से वे पिता पुत्र थे। पुत्र आगे था, पिता पीछे। मार्ग था एकदम निर्जन और भयानक। और फिर अचानक सिंह का गर्जन हुआ। पिता ने पुत्र से कहा : 'तुम पीछे आजाओ, खतरा है' 'पुत्र हंसने लगा और आगे चलता था। . . .आगे चलता रहा। पिता ने दोबारा कहा। सिंह सामने आ गया था। मृत्यु द्वार पर खड़ी थी। पुत्र बोला . 'मैं शरीर नहीं हूं, तो खतरा कहां है? आप भी तो यही कहते हैं न ?' पिता ने भागते हुये चिल्लाकर कहा . "पागल, सिंह की राह छोड दे।'पर पुत्र हंसता ही रहा और बढ़ता ही रहा। सिंह का हमला भी होगया। वह गिर पड़ा था पर उसे बोल रहा था कि जो गिरा है वह 'मैं' नहीं हूं। शरीर वह नहीं था, इसलिये उसकी कोई मृत्यु भी नहीं थी। जो पिता कहता था, वह उसे बोल भी रहा था। और वह अंतर महान् है। पिता दुखी था और दूर खड़े उसकी आंखों से आंसू थे और वह स्वयं मात्र दृष्टा ही रह गया था। वह जीवन में दृष्टा था, तो मृत्यु में भी दृष्टा था। उसे न दुख था, न पीड़ा थी। वह अविचल और निर्विकार था, क्योंकि जो भी हो रहा था, वह उसके बाहर हो रहा था। वह स्वयं कहीं भी उसमें सम्मिलित नहीं था।

इससे कहता हूं कि ज्ञान और ज्ञान में भेद है।

३८.

"समाधि क्या है ?"

किसी ने कहा है : बूंद का सागर में मिल जाना।

किसी ने कहा है : सागर का बूंद में उतर आना।

मैं कहता हूं : बूंद और सागर का मिट जाना। जहां न बूंद है, न सागर है, वहां समाधि है। जहां न एक है न अनेक है, वहां समाधि है। जहां न सीमा है, न असीम है, वहां समाधि है।

समाधि सत्ता के साथ ऐक्य है।

समाधि सत्य है, समाधि चैतन्य है। समाधि शान्ति है।

'मैं' समाधि में नहीं होता हूं, वरन जब 'मैं' नहीं होता है, तब जो है, वह समाधि है।

और शायद, यह 'मैं' जो कि 'मैं' नहीं है, वास्तविक 'मैं' है।

'मैं' की दो सत्तायें हैं: अह्‌म और ब्रह्म। अह्‌म वह है जो मैं नहीं हूं पर जो मैं जैसा भासता है। ब्रह्म वह है जो मैं हूं, लेकिन जो मैं जैसा प्रतीत नहीं होता है।

चेतना शुद्ध चैतन्य ब्रह्म है।

मैं शुद्ध साक्षी चैतन्य हूं पर विचार प्रवाह से तादात्म्य के कारण वह दिखाई नहीं पड़ता है। विचार स्वयं चेतना नहीं है। विचार को जो जानता है, वह चैतन्य है। विचार का भी जो दृष्टा है वह चैतन्य है। विचार विषय है, चेतना विषयी है। विषय से विषयी का तादात्म्य मूर्च्छा है। यही अ-समाधि है। यही प्रसुप्त अवस्था है।

विचार विषय के अभाव में जो शेष है वही चेतना है। इस शेष में ही होना समाधि है।

उसमें जागो—यही समस्त जाग्रत पुरुषों की वाणी का सार है।

३९.

मैं माली को बीज बोते देखता हूं । फिर, वह खाद देता है । पानी देता है । और फूलों के आने की प्रतीक्षा करता है । फूल खींचकर जबरदस्ती पौधों से नहीं निकाले जाते हैं । उनकी तो धीरज से प्रतीक्षा करनी होती है ।

प्रेम और प्रतीक्षा ।

ऐसे ही प्रभु के बीज भी बोने होते हैं । और, ऐसे ही दिव्य जीवन के फूलों के खिलने की भी राह देखनी होती है ।

प्रार्थना और प्रतीक्षा ।

जो इसके विपरीत चलता है और अधैर्य प्रगट करता है, वह कहीं भी नहीं पहुंच पाता है । अधैर्य उस विकास के लिये अच्छी खाद नहीं है ।

शांति से, धैर्य और प्रीति से प्रतीक्षा करने पर किसी सुबह अनायास ही फूल खिल जाते हैं, और उनकी गंध जीवन के आंगन को सुवासित कर देती है ।

अनंत के फूलों के लिये अनंत प्रतीक्षा अपेक्षित है, पर यह स्मरण रहे कि जो उतनी प्रतीक्षा के लिये तत्पर होता है, उसकी प्राप्ति का समय तत्क्षण आ जाता है। अनंत धैर्य ही अनंत को पाने की एकमात्र शर्त है । उस शर्त के पूरे होते ही वह उपलब्ध हो जाता है । उसे कहीं बाहर से थोड़ा ही आना है । वह तो भीतर का ही विकास है । वह तो मौजूद ही है । पर अधैर्य और अशांति के कारण हम उसे नहीं देख पाते हैं ।

४०.

मनुष्य का मन अद्भुत है। वही है रहस्य संसार का और मोक्ष का। पाप और पुण्य, बंधन और मुक्ति, स्वर्ग और नर्क सब उसमें ही समाये हुये हैं। अंधेरा और प्रकाश सब उसी का है। उस में ही जन्म है, उसमे ही मृत्यु है। वही है द्वार बाह्य जगत का, वही है सीढ़ी अंतः की और उसका ही न हो जाना दोनों के पार हो जाना हो जाता है।

मन सब कुछ है। सब उसकी ही लीला और कल्पना है। वह सो जाये तो सब लीला विलीन हो जाती है।

कल कही यह कहा था। कोई पूछने आया : 'मन तो बड़ा चंचल है, वह सोये कैसे ? मन तो बड़ा गंदा है, वह निर्मल कैसे हो ?'

मैं फिर एक कहानी कहा बुद्ध जब वृद्ध हो गये थे, तब एक दोपहर एक वन मे एक वृक्ष तले विश्राम को रुके थे। उन्हे प्यास लगी तो आनन्द पास के पहाड़ी झरने पर पानी लेने गया था। पर झरने में से अभी-अभी गाड़िया निकली थी और उसका पानी सब गंदा हो गया था। कीचड़-ही-कीचड़ और सड़े पत्ते उसमे उभरकर आ गये थे। आनन्द उसका पानी बिना लिये ही वापिस लौट आया। उसने बुद्ध से कहा : 'नाले का पानी निर्मल नही है, मै पीछे लौटकर नदी से पानी ले आता हूं।' नदी बहुत दूर थी। बुद्ध ने उसे झरने का पानी ही लाने को वापिस लौटा दिया। आनन्द थोड़ी देर में फिर खाली लौट आया। वह पानी उसे लाने जैसा नही लगा। यह तीन बार हुआ। पर बुद्ध उसे हर बार वापिस लौटा देते। और तीसरी बार जब आनंद झरने पर पहुंचा तो चकित हो गया। झरना अब तक बिल्कुल निर्मल और शात हो गया था, कीचड़ बैठ गई थी और जल बिल्कुल निर्मल हो गया था।

यह कहानी मुझे बड़ी प्रीतिकर है। यही स्थिति मन की भी है। जीवन की गाड़ियां उसे विक्षुब्ध कर जाती हैं। पर कोई यदि शान्ति और धीरज से उसे बैठा देखता रहे तो कीचड़ अपने से नीचे बैठ जाती है और सहज निर्मलता का आगमन हो जाता है। मन की निर्मलता में जीवन नया हो जाता है। केवल धीरज की बात है और शान्त प्रतीक्षा की और 'बिना कुछ किये' मन की कीचड़ बैठ सकती है।

केवल साक्षी होना है और मन निर्मल हो जाता है। मन को निर्मल करना नहीं होता है। करने से ही कठिनाई बन जाती है। उसे तो केवल किनारे से बैठकर देखें और फिर देखें कि क्या होता है?

४१.

रात्रि के इस सन्नाटे में कोई बांसुरी बजा रहा है। चांदनी ज नी लगती है: यह एकांत रात्रि और दूर से आते बांसुरी के स्वप्न-सा मधुर विश्वास न हो, इतना सुन्दर यह सब है।

एक बांस की बांसुरी कितना अमृत बरसा सकती है?

जीवन भी बांसुरी की भांति है। अपने में खाली और शून्य, साथ ही संगीत की अपरिसीम सामर्थ्य भी उसमें है।

पर सब कुछ बजाने वाले पर निर्भर है। जीवन वैसा ही हो जा है, जैसा व्यक्ति उसे बनाता है। वह अपना ही निर्माण है। वह एक अवसर मात्र है—जैसा गीत कोई गाना चाहता है, वह पूरी त उसके हाथों में है। मनुष्य की महिमा यही है कि वह स्वर्ग और न कों के गीत गाने को स्वतंत्र है।

प्रत्येक व्यक्ति दिव्य स्वर अपनी बांसुरी से उठा सकता है। बस थोड़ी सी उंगलियां भर साधने की बात है। थोड़ी सी साधना और विराट उपलब्धि है। न कुछ करने से ही अनन्त आनन्द का साम्राज्य मिल जाता है।

मैं चाहता हूं कि एक हृदय में कह दूं कि अपनी बांसुरी को उठा लो। समय भागा जा रहा है: देखना कहीं गीत गाने का अवसर बीत न जाये। इसके पहले कि पर्दा गिरे तुम्हें अपना जीवन गीत गा लेना है।

४२.

जीवन साधना में बीज क्या है और फल क्या है, यह जानना अत्यंत अनिवार्य है। प्रारम्भ और परिणाम को पहचानना जरूरी है। कार्य और कारण को न जाने हुये जो चलता है, वह भूल सकता है। चलना ही केवल पर्याप्त नहीं है। अकेले चलने से ही कोई नहीं पहुंचता है। दिशा और साधना-विधि का सम्यक् होना जरूरी है।

साधना में केन्द्रीय भी कुछ है, कुछ परिधिगत भी है। केन्द्र पर प्रयास हो तो परिधि अपने से संभल जाती है। उसे पृथक संभालने का कारण नहीं है। वह केन्द्र की ही अभिव्यक्ति है, वह फैला हुआ केन्द्र है। इससे परिधि पर प्रयास व्यर्थ होते हैं। एक कहावत है "झाड़ी के आसपास पीटना।" परिधि पर उलझना ऐसा ही है।

क्या है केन्द्र ? क्या है परिधि ?

ज्ञान केन्द्र है, शील परिधि है। ज्ञान प्रारम्भ है, शील परिणाम है। ज्ञान बीज है, शील फल है। पर साधारणत:, लोगों का चलना विपरीत है। शील से चलकर वे ज्ञान पर पहुंचना चाहते हैं। शील को वे ज्ञान में परिणित करना चाहते हैं।

पर शील अज्ञान में पैदा नहीं किया जा सकता है। शील पैदा ही नहीं किया जा सकता है। पैदा किया हुआ शील, शील नहीं है। वह मिथ्या आवरण है, जिसके तले कुशील दब जाता है। चेष्ठित शील आत्म वंचना है।

अंधेरे को दबाना-छिपाना नहीं है। उसे मिटाना है। कुशील पर शील के कागजी फूल नहीं चिपकाने हैं। उसे मिटाना है। जब वह नहीं है, तब जो आता है, वह शील है।

४१.

रात्रि के इस सन्नाटे में कोई बांसुरी बजा रहा है। चांदनी जम गई सी लगती है: सर्द एकांत रात्रि और दूर से आते बांसुरी के स्वर। स्वप्न-सा मधुर विश्वास न हो, इतना सुन्दर यह सब है।

एक बांस की पोंगरी कितना अमृत बरसा सकती है?

जीवन भी बांसुरी की भांति है। अपने में खाली और शून्य, पर साथ ही संगीत की अपरिसीम सामर्थ्य भी उसमें है।

पर सब कुछ बजाने वाले पर निर्भर है। जीवन वैसा ही हो जाता है, जैसा व्यक्ति उसे बनाता है। यह अपना ही निर्माण है। यह तो एक अवसर मात्र है–कैसा गीत कोई गाना चाहता है, यह पूरी तरह उसके हाथों में है। मनुष्य की महिमा यही है कि वह स्वर्ग और नर्क दोनों के गीत गाने को स्वतंत्र है।

प्रत्येक व्यक्ति दिव्य स्वर अपनी बांसुरी से उठा सकता है। बस थोड़ी सी उंगलियां भर साधने की बात है। थोड़ी सी साधना और विराट उपलब्धि है। न कुछ करने से ही अनन्त आनन्द का साम्राज्य मिल जाता है।

मैं चाहता हूं कि एक हृदय में कह दूं कि अपनी बांसुरी को उठा लो। समय भागा जा रहा है: देखना कहीं गीत गाने का अवसर बीत न जाये। इसके पहले कि पर्दा गिरे तुम्हें अपना जीवन गीत गा लेना है।

४२.

जीवन साधना में बीज क्या है और फल क्या है, यह जानना अत्यंत अनिवार्य है। प्रारम्भ और परिणाम को पहचानना जरूरी है। कार्य और कारण को न जाने हुये जो चलता है, वह भूल सकता है। चलना ही केवल पर्याप्त नही है। अकेले चलने से ही कोई नहीं पहुंचता है। दिशा और साधना-विधि का सम्यक् होना जरुरी है।

साधना में केन्द्रीय भी कुछ है, कुछ परिधिगत भी है। केन्द्र पर प्रयास हो तो परिधि अपने मे संभल जाती है। उसे पृथक संभालने का कारण नहीं है। वह केन्द्र की ही अभिव्यक्ति है, वह फैला हुआ केन्द्र है। इससे परिधि पर प्रयास व्यर्थ होते हैं। एक कहावत है "झाड़ी के आसपास पीटना।" परिधि पर उलझना ऐसा ही है।

क्या है केन्द्र ? क्या है परिधि ?

ज्ञान केन्द्र है, शील परिधि है। ज्ञान प्रारम्भ है, शील परिणाम है। ज्ञान बीज है, शील फल है। पर साधारणतः, लोगों का चलना विपरीत है। शील से चलकर वे ज्ञान पर पहुंचना चाहते हैं। शील को वे ज्ञान में परिणित करना चाहते हैं।

पर शील अज्ञान में पैदा नही किया जा सकता है। शील पैदा ही नही किया जा सकता है। पैदा किया हुआ शील, शील नहीं है। वह मिथ्या आवरण है, जिसके तले कुशील दब जाता है। चेष्ठित शील आत्म वंचना है।

अंधेरे को दबाना-छिपाना नहीं है। उसे मिटाना है। कुशील पर शील के कागजी फूल नहीं चिपकाने हैं। उसे मिटाना है। जब वह नहीं है, तब जो आता है, वह शील है।

अज्ञान में जबरदस्ती लाया गया शील घातक है क्योंकि उसमें जो नहीं है, वह ज्ञात होता है कि है। और इस भांति जिसे लाना है, उसका आंख से ओझल हो जाना हो जाता है।

अज्ञान में सीधे शील लाने का कोई उपाय भी नहीं है, क्योंकि अज्ञान की अभिव्यक्ति ही कुशील है। कुशीलता अज्ञान ही है। किसी वृद्ध ने कहा है 'अण्णाणी किं काही ?' जो अज्ञान में है, वह क्या कर सकता है।

शील नहीं, ज्ञान लाना है। ज्ञान ही शील बन जाता है।

आगम कहते हैं :

नाणस्स सव्वस्स पगासणाये, अण्णाण मोहस्स विवज्जणाये,
रागस्स दोसस्स य संखयेणं, एगंत सोक्खं समुवेई मोक्खं।

ज्ञान सर्व को प्रकाशित करता है। उसके उदय से ही अज्ञान और मोह का नाश होता है। उससे ही राग और द्वेष का क्षय होता है। उससे ही मुक्त दशा उपलब्ध होती है।

४३.

सुबह एक पत्र मिला है। किसी ने उसमें पूछा है कि जीवन दुख में घिरा है फिर भी आप आनन्द की बात कैसे करते हैं? जो है उसे देखें तो आनन्द की बातें कल्पना प्रतीत होती हैं।

निश्चय ही जीवन दुख में घिरा है, चारों ओर दुख है, पर जो घिरा है वह दुख नहीं है। जब तक जो घेरे है, उसे देखते रहेंगे, दुख ही मालूम होगा पर जिस क्षण उसे देखने लगेंगे, जो कि घिरा है तो उसी क्षण दुख असत्य हो जाता है और आनन्द सत्य हो जाता है।

मूल दृष्टि परिवर्तन की बात है। जो दृष्टि द्रष्टा को प्रगट कर देती है वही दृष्टि है। शेष सब अंधापन है। द्रष्टा के प्रगट होते ही सब आनन्द हो जाता है क्योंकि आनन्द उसका स्वरूप है। जगत् फिर भी रहता है पर दूसरा हो जाता है। आत्म अज्ञान के कारण उसमें जो कांटे मालूम हुये थे, वे अब कांटे नहीं मालूम होते हैं।

दुख की सत्ता वास्तविक नहीं है क्योंकि परवर्ती अनुभव से वह खंडित हो जाती है। जागने पर जैसे स्वप्न अवास्तविक हो जाता है वैसे ही स्व-बोध पर दुख हो जाता है।

आनन्द सत्य है, कारण वह स्व है।

•

४४.

कल एक जगह बोला हूं ।

कहा : मै तुम्हें असंतुष्ट करना चाहता हूं। एक दिव्य प्यास, एक अलौकिक अतृप्ति सबमें पैदा हो यही मेरी कामना है। मनुष्य जो है उसमें तृप्त रह जाना मृत्यु है। मनुष्य विकास का अंत नही है। वह भी एक सीढ़ी है। एक विकास सोपान है। जो उसमें प्रगट है वह अप्रगट की तुलना में कुछ भी नही है। जो वह है, वह, उसकी तुलना में जो कि वह हो सकता है, कुछ न होने के बराबर ही है।

धर्म, तृप्ति की इस मृत्यु से, प्रत्येक को अतृप्ति के जीवन में जगाना चाहता है। क्योंकि उस अतृप्ति से ही उस बिन्दु तक पहुंचना हो सकता है, जहा कि वास्तविक संतृप्ति है।

मनुष्य को मनुष्यता का अतिक्रमण करना है।

यह अतिक्रमण ही उसे दिव्यता में प्रवेश देता है।

यह अतिक्रमण कैसे होगा ?

एक परिभाषा को समझें तो अतिक्रमण की प्रक्रिया भी समझ में आ जाती है।

पशुता–विचार-प्रक्रिया के पूर्व की स्थिति ।

मनुष्यता–विचार-प्रक्रिया की स्थिति ।

दिव्यता–विचार-प्रक्रिया के अतीत की स्थिति ।

विचार-प्रक्रिया के घेरे के पार चलें तो चेतना दिव्यता में पहुंच जाती।

विचार को पार करना मनुष्य का अतिक्रमण कर जाना है।

४६.

मैं प्रकृति में ही परमात्मा को देखता हूं। प्रतिक्षण, प्रतिघड़ी, उसका मुझे अनुभव हो रहा है। एक स्वांस भी ऐसी नहीं आती जाती है, जब उससे मिलन न हो जाता हो। जहां भी आंख पड़ती है, देखता हूं कि वह उपस्थित है। और जहां भी कान सुनते हैं, पाता हूं कि उसका ही संगीत बज रहा है।

वह तो सब जगह है, केवल उसे देखना भर आने की बात है। वह तो है, पर उसे पकड़ पाने के लिये आंख चाहिये। आंख के आते ही वह सब दिशाओं में और सब समयों में उपस्थित हो जाता है।

रात्रि जब आकाश तारों से भर जावे, तो उन तारों को सोचो मत, देखो। और, सागर के वक्ष पर जब लहरें नाचती हों, तो उन लहरों को सोचो मत, देखो और कली जब फूल बनती हो तो देखो और केवल देखो। विचार न हो और मात्र दर्शन हो, तो एक बड़ा राज खुल जाता है, और प्रकृति के द्वार से उस रहस्य में प्रवेश होता है, जो कि परमात्मा है। प्रकृति परमात्मा के आवरण से ज्यादा कुछ भी नहीं है, और जो उसके घूंघट को उठाना जानते हैं, वे ही केवल जीवन के सत्य से परिचित हो पाते हैं।

सत्य का एक युवा खोजी किसी सद्गुरु के पास गया था। उसने जाकर पूछा : 'मैं सत्य को जानना चाहता हूं, मैं धर्म को जानना चाहता हूं, कृपा करें और मुझे बतावें कि मैं कहां से प्रारंभ करूं, कहां से प्रवेश करूं? 'उस सद्गुरु ने कहा :' क्या पास ही पर्वत से गिरते जलप्रपात की ध्वनि तुम्हें नहीं सुनाई पड़ रही है? 'उस युवक ने कहा : 'मैं उसे भलीभांति सुन रहा हूं।' वह सद्गुरु बोला:

'तब यहीं [illegible] प्रारंभ करो वहीं से प्रवेश करो (Then enter fiom there) वही द्वार है।"

सच ही प्रवेश द्वार इतना ही निकट है। पहाड़ से गिरते झरनों में, हवाओं मे डोल रहे वृक्षों के पत्तों में, सागर पर नाच रही सूरज की किरणों मे—पर हर प्रशवेद्वार पर पर्दा है, और विना उठाये वह नहीं उठता है. और वस्तुतः वह पर्दा प्रवेशद्वारों पर नहीं है, वह हमारी दृष्टि पर ही है। और, इस भांति एक ही परदे ने अनंत द्वारों पर परदा कर दिया है।

४६.

चांद ऊपर उठ रहा है। दरख्तों को पार करता उसका मद्धिम प्रकाश रास्ते पर पड़ने लगा है। और आम्र फूलों की भीनी गंध से हवायें सुवासित हो रही हैं।

मैं एक विचार गोष्ठी से लौटा हूं, जो थे वहां अधिकतर युवक थे। आधुनिकता से प्रभावित और उत्तेजित। अनास्था ही जैसे उनकी आस्था है, निषेध स्वीकार है। उनमें से एक ने कहा : "मैं ईश्वर को नहीं मानता हूं, मैं स्वतंत्र हूं।" इस एक पंक्ति में तो युग की मनः स्थिति ही प्रतिबिम्बित है। सारा युग इस स्वतन्त्रता की छाया में है, बिना यह जाने कि यह स्वतन्त्रता आत्म हत्या है।

क्यों है यह आत्म हत्या? क्योंकि अपने को अस्वीकार किये बिना ईश्वर को अस्वीकार करना असंभव है।

एक कहानी मैंने उनसे कही : "ईश्वर के भवन पर फैली एक अंगूर बेल थी। वह फैलते-फैलते, बढ़ते-बढ़ते, आज्ञा मानते-मानते थक गई थी। उसका मन परतन्त्रता से ऊब गया था और फिर एक दिन उसने भी स्वतन्त्र होना चाहा था। वह जोर से चिल्लाई थी कि सारे आकाश सुन ले : 'मैं अब बढ़ूंगी नहीं।

'मैं अब बढ़ूंगी नहीं।'

'मैं अब बढ़ूंगी नहीं।'

यह विद्रोह निश्चय ही मौलिक था क्योंकि स्वभाव के प्रति ही था। ईश्वर ने बाहर झांक कर कहा : "न बढ़ो, बढ़ने की आवश्यकता ही क्या है?" बेल खुश हुई, विद्रोह सफल हुआ था। वह न बढ़ने के श्रम में लग गई। पर बढ़ना न रुका, न रुका। वह न बढ़ने में लगी

रही और बढ़ती गई, बढ़ती गई—और ईश्वर यह सब पूर्व से ही जानता था।"

यही स्थिति है। ईश्वर हमारा स्वभाव है। वह हमारा आंतरिक नियम है। उससे दूर नहीं जाया जा सकता है। वह हुये बिना कोई मार्ग नही है। कितना ही अस्वीकार करें, कितना ही स्वतंत्र होना चाहें उससे, पर उससे मुक्ति नहीं है, क्योंकि वह हमारा स्व है। वस्तुतः वह ही है और हम कल्पित हैं, इससे कहता हूं उससे नहीं, उसमें ही मुक्ति है।

४७.

एक राजा ने एक सामान्यतः स्वस्थ और संतुलित व्यक्ति को कैद कर लिया था। एकाकीपन का मनुष्य पर क्या प्रभाव होता है, इस अध्ययन के लिये। वह व्यक्ति कुछ समय तक चीखता चिल्लाता रहा बाहर जाने के लिये। रोता था, सिर फोड़ता था। उसकी सारी सत्ता जो बाहर थी। सारा जीवन तो पर से, अन्य से बंधा था। अपने में तो वह कुछ भी नहीं था। अकेला होना न होने के ही बराबर था।

और सच ही वह धीरे धीरे टूटने लगा। उसके भीतर कुछ विलीन होने लगा। चुप्पी आ गई। रुदन भी चला गया। आंसू भी सूख गये। और आंखें ऐसे देखने लगीं जैसे पत्थर की हों। वह देखता हुआ भी लगता कि जैसे नहीं देख रहा है।

दिन बीते, माह बीते, वर्ष बीत गया। उसकी सुख सुविधा की सब व्यवस्था थी। जो उसे बाहर उपलब्ध नहीं था, वह सब बंद में उपलब्ध था। शाही आतिथ्य जो था।

लेकिन वर्ष पूरा होने पर विशेषज्ञों ने कहा: 'वह पागल हो गया है।'

ऊपर से वह वैसा ही था। शायद ज्यादा ही स्वस्थ था। लेकिन भीतर?

भीतर एक अर्थ में वह मर ही गया था।

मैं पूछता हूं: क्या एकाकीपन किसी को पागल कर सकता है? एकाकीपन कैसे पागल करेगा? वस्तुतः वह तो पूर्व से ही है। बाह्य संबंध उसे छिपाये थे। एकाकीपन उसे अनावृत्त कर देता है।

मनुष्य को अपने को भीड़ में खोने की अकुलाहट उससे बचने के लिये ही है।

प्रत्येक व्यक्ति इसलिये स्वयं से पलायन किये हुये है। पर यह पलायन स्वास्थ्य नहीं कहा जा सकता है। तथ्य को न देखना, उससे मुक्त होना नहीं है। जो नितांत एकाकीपन में स्वस्थ और संतुलित नहीं है वह धोखे में है। यह आत्म वंचना कभी न कभी खंडित होगी ही। और वह जो भीतर है, उसे उसकी परिपूर्ण नग्नता में जानना होगा। यह अपने आप अनायास हो जाये तो व्यक्तित्व छिन्न भिन्न और विक्षिप्त हो जाता है।जो दमित है वह कभी न कभी विस्फोट को भी उपलब्ध होता है।

धर्म इस एकाकीपन में स्वयं होकर उतरने का विज्ञान है। क्रमशः एक-एक परत उघाड़ने पर अद्भुत सत्य का साक्षात् होता है। धीरे-धीरे ज्ञात होता है कि वस्तुतःहम अकेले ही हैं। गहराई में, आंतरिकता के केन्द्र पर प्रत्येक एकाकी है। और उस एकाकीपन से परिचित न होने के कारण भय मालूम होता है। अपरिचय और अज्ञान भय देता है। परिचित होते ही भय की जगह अभय और आनन्द ले लेता है। एकाकीपन के घेरे में स्वयं सच्चिदानन्द विराजमान है।

अपने में उतरकर स्वयं प्रभु को पा लिया जाता है। इससे कहता हूं :अकेलेपन से, अपने से भागो मत वरन् अपने में डूबो। सागर में डूबकर ही मोती पाये जाते हैं।

४८.

रात्रि पानी गिरा है। सड़कें भीगी हुई हैं। हवायें आर्द्र हैं और आकाश में अब भी बादल हैं। लगता है कि सूरज नहीं निकलेगा। सुबह बड़ी उदास लग रही है।

एक युवक आये हैं। बहुत पढ़ा लिखा है ऐसा मालूम होता है। बातों में किताबों ही किताबों की गंध है। यह गंध कितनी ऊब पैदा करती है?

मैं उन्हें सुनता हूं, वैसे वे ही मुझे सुनने आये थे। एक घंटा बोलते रहे हैं, पर जो कहा है, सब पराया है। हमारी आज की शिक्षा यही यांत्रिकता ला रही है। वह सृजनात्मक नहीं है। विचार का नहीं, उससे केवल स्मृति का ही जन्म होता है। विचार तो मिल जाते हैं, पर विचार शक्ति नहीं मिलती है। यह स्थिति बहुत घातक है। इससे अपना व्यक्तित्व और विचार, अपनी स्वानुभूति का कोई विकास नहीं हो पाता है। व्यक्ति केवल यंत्र की भांति दूसरों को दोहराता है।

वह शिक्षा वास्तविक नहीं है, जो केवल स्मृति को ही भरती है। ऐसी शिक्षा, शिक्षा का आभास मात्र ही है। शिक्षा से तो उस अंतर्दृष्टि का जन्म होना चाहिये, जो स्वयं समस्याओं में देखने में समर्थ होती है। समस्यायें मेरी हैं, तो समाधान दूसरों के काम नहीं दे सकते हैं। और, फिर प्रत्येक समस्या इतनी नयी है कि कोई भी पुराना समाधान उसके लिये समाधान नहीं हो सकता है।

शिक्षा से हमारे भीतर जो प्रसुप्त शक्ति है... मेधा है, उसका जागरण होना चाहिये, न कि हमें केवल उन विचारों से भर दिया जाना चाहिये जो कि न हमने जिये हैं और न जाने हैं, जो कि हमारे

लिये एकदम मृत हैं। और जिनसे केवल हमारा भार ही बढ़ सकता है। इस मृत भार के नीचे मेधा का जागरण असंभव हो जाता है।

मैं रोज अपने चारों ओर ऐसे लोगों को देख रहा हूं जो कि उन विचारों के बोझ से दबे जा रहे हैं जो कि उन्होंने जाने नहीं, स्वीकार कर लिये हैं। यह विचार जो स्वयं नहीं जाना गया है, अनिवार्यतः भार बन जाता है।

शिक्षा विचारों का निष्क्रिय स्वीकार नहीं होनी चाहिये। वह तो सक्रिय समझ और सृजनात्मक बोध पर आधारित हो तो ही सार्थक है।

मैं इन बातों में उन युवक को भूला ही जा रहा हूं। वे जब अपने .... जो कि जरा भी अपने नहीं हैं.... विचारों को बोलकर चुप हुये तो उन्होंने गौरव से चारों ओर इस भाव से देखा कि मैं भी जानता हूं।

ज्ञान कितना कठिन, पर ज्ञान का अहंकार कितना आसान है?

ज्ञान तो नहीं आ पाता है, पर अहंकार अवश्य आ जाता है। और स्मरण रहे कि वे दोनों बिल्कुल ही विपरीत आयाम हैं। ज्ञान तो अहंकार की मृत्यु है। और, जहां वह हो, जाना जा सकता है कि ज्ञान नहीं है। यह ज्ञान के अभाव की पर्याप्त सूचना है।

ज्ञान अहंकार शून्यता लाता है। व्यक्ति जितना जानता है, उतना ही उसे अज्ञान का बोध प्रगाढ़ होता जाता है। ज्ञान रहस्य को मिटाता नहीं, खोलता है। और उस क्षण जब जगत् का और स्वयं का संपूर्ण रहस्य सामने होता है.... ज्ञान के उस उत्ताप बिन्दु पर व्यक्ति शून्य हो जाता है और उसका समस्त अहं बोध विसर्जित हो जाता है। अहंकार अज्ञान के अंधकार की उत्पत्ति था, ज्ञान के प्रकाश में वह मर जाता है।

मैं थोड़ी देर चुप रहा और फिर उनको कहा : 'मैं आपको सुनना चाहता था पर आप तो कुछ कहते ही नहीं हैं। यह जो कहा ....कुछ भी आपका नहीं है। वह सब तो उधार है। और पराये से समृद्धि नहीं आती है। उससे दरिद्रता ढंक सकती है, पर मिटती नहीं है। सत्य के संबंध में केवल अपनी ही अनुभूति सत्य और जीवित होती है। वह हो तो जीवन में क्रान्ति हो जाती है, अन्यथा सत्य के संबंध में मृत, पराये विचार ढोने से कुछ भी हाथ नहीं आता है। उससे केवल बोझ ही बढ़ता है और स्वानुभव की संभावना दूर हो जाती है।'

ज्ञान जो अपना नहीं है, उस ज्ञान के उदय में बाधा बन जाता है जो कि केवल अपना ही हो सकता है।

४९.

संध्या रुकी सी लगती है। पश्चिमोन्मुख सूरज देर हुये बादलों में छिप गया है, पर रात्रि अभी नही हुई। एकांत है : बाहर भी, भीतर भी। अकेला हूं : कोई बाहर नहीं है, कोई भीतर भी नहीं है।

मैं इस समय कहीं भी नहीं हूं या कि वहां हूं जहां शून्य है। और जब मन शून्य होता है, तो होता ही नहीं है।

यह मन अद्‌भुत है। प्याज़ की गांठ की तरह अनुभव होता है। एक दिन प्याज़ को देख कर यह स्मरण आया था। उसे छीलता था—छीलता गया—पर्तों पर पर्तें निकलती गईं और फिर हाथ में कुछ भी न बचा। मोटी खुरदरी पर्तें, फिर मुलायम चिकनी पर्तें और फिर कुछ भी नहीं। मन भी ऐसा ही है : उघाड़ते चलें—स्थूल पर्तें फिर सूक्ष्म पर्तें फिर शून्य। विचार, वासनायें और अहंकार और बस। फिर कुछ भी नहीं है, फिर शून्य है। इस शून्य को उघाड़ लेने को ही मैं ध्यान कहता हूं।

यह शून्य ही हमारा स्वरूप है। वह जो अंततः शेष बच रहता है, वही स्वरूप है। उसे कहें, आत्मा चाहे अनात्मा। शब्द से कुछ अर्थ नहीं है। विचार, वासना, अहंकार जहां नहीं है, वहीं वह है 'जो है।'

ह्यूम ने कहा है : 'जब भी मैं अपने में जाता हूं, कोई 'मैं' मुझे वहां नही मिलता है—या तो विचार से टकराता हूं, या किसी वासना से या किसी स्मृति से। पर स्वयं से कोई मिलना नहीं होता है।' यह बात ठीक ही है। पर ह्यूम पर्तों से ही लौट आते हे। यही उनकी भूल है। वे थोड़ा और गहरे जाते तो वहां पहुंच जाते जहां कि टकराने को कुछ भी नहीं है। वही है स्वरूप। जहां टकराने को कुछ

भी शेष नहीं रह जाता है,वहां वह है जो मैं हूं। उस शून्य पर ही सब खड़ा है, पर कोई यदि सतह से ही लौट आवे तो उससे परिचय नहीं हो पाता है।

सतह पर संसार है, केन्द्र में स्व है। सतह पर सब है, केन्द्र में शून्य है।

९०.

धूप में घूमकर लौटा हूं। सर्दियों की कुनकुनी धूप कितनी सुखद मालूम होती है। सूरज निकला ही है और किरणों की गरमाहट आहिस्ता आहिस्ता चढ़ रही है।

एक व्यक्ति साथ थे। मैं राह भर चुप रहा पर वे बोलते ही रहे। सुनता था तो एक बात ध्यान में आई कि हम कितनी बार 'मैं' का प्रयोग करते हैं। इस 'मैं' के केन्द्र से ही सब जुड़ा रहता है। जन्म के बाद संभवतः 'मैं का बोध सबसे पहले उठता है और मृत्यु के समय सबसे अन्त में वह जाता है। इन दो छोरों के बीच में भी उसका ही विस्तार होता है।

इतना सुपरिचित यह 'मैं' है पर कितना अज्ञात भी है। इससे अधिक रहस्यमय शब्द मानवीय भाषा में दूसरा नहीं है।

जीवन बीत जाता है पर "मैं" का रहस्य शायद ही उघड़ पाता हो?

यह 'मैं' कौन है? इसे अस्वीकार करना भी संभव नहीं है। निषेध में भी यह प्रस्तावित हो जाता है। 'मैं' नहीं हूं, कहने में भी वह उपस्थित हो जाता है। मानवीय बोध में यह 'मैं' सबसे सुनिश्चित और असंदिग्ध तत्त्व है।

'मैं हूं' यह बोध तो है, पर मैं' कौन हूं 'यह सहज ज्ञात नहीं है। इसे जानना साधना से ही सुलभ है। समस्त साधना 'मैं' को जानने की साधना है। समस्त धर्म, समस्त दर्शन इस एक प्रश्न के ही उत्तर हैं।

'मैं कौन हूं?' इसे प्रत्येक को अपने से पूछना है। सब छूट जाये और एक प्रश्न ही रह जाये। सारे मन पर गूंजती यह एक जिज्ञासा ही रह जाये। तो ऐसे यह प्रश्न अचेतन में उतर जाता है। प्रश्न जैसे

जैसे गहरा होने लगता है, वैसे-वैसे सतही तादात्म्य टूटने लगते हैं। दीखने लगता है कि मैं शरीर नहीं हूं। दीखने लगता है कि मैं मन नहीं हूं। दीखने लगता है कि मैं तो वह हूं जो सबको देख रहा है। दृष्टा हूं मैं, साक्षी हूं मैं। यह अनुभूति 'मैं' के वास्तविक स्वरूप का दर्शन बन जाती है। शुद्ध बुद्ध दृष्टा चेतना का साक्षात् हो जाता है। इस सत् ज्ञान के उदय में जीवन के रहस्य का द्वार खुलता है। अपने से परिचित होकर हम जगत के समस्त रहस्य से परिचित हो जाते हैं। 'मैं' का ज्ञान ही प्रभु का ज्ञान बन जाता है। इसलिये कहता हूं कि यह 'मैं' बहुमूल्य है। इसकी परिपूर्ण गहराई में उतर जाना सब कुछ पा लेना है।

६१.

रात्रि की शान्ति में नगर सो गया है । एक अतिथि को साथ लेकर मैं घूमकर लौटा हूं । मार्ग में बहुत बातें हुई हैं । अतिथि अनात्मवादी हैं । विद्वान हैं और उन्होंने खूब पढ़ा लिखा है । बहुत तर्क उन्होंने इकट्ठे किये हैं । मैं वह सब शान्त हो सुना हूं और फिर सिर्फ एक ही बात पूछी है कि क्या इन सारे विचारों से शान्ति और आनन्द उन्हे उपलब्ध हो रहा है ?

इस पर वे थोड़े सकुचा गये हैं और उत्तर नहीं खोज पाये हैं । सत्य की कसौटी तर्क नहीं है ।सत्य की कसौटी विचार नहीं हैं । सत्य की कसौटी है आनन्दानुभूति । विचार सरिणी सम्यक् हो तो परिणाम में जीवन आनन्द चेतना से भर जाता है। इस स्थिति को ही पाने के लिये सब विचार हैं जो विचार दर्शन यहां नही ले आता है, वह अविचार ही ज्यादा है । इससे, मैंने उनसे कहा, "मैं आपकी बातों का विरोध नही करता हूं, बस आपसे ही—अपने आपसे यह प्रश्न पूछनें की विनय करता हूं ।'

धर्म विचार नहीं है।वह तो भागवत् चैतन्य उपलब्ध करने का एक विज्ञान मात्र है । उसकी परीक्षा विवाद में नहीं, प्रयोग में है। वह सत्य निर्णय नहीं, सत्य साधना और सिद्धि है ।

एक झोपड़े में बैठा हूं। छप्पर की रन्ध्रों से सूरज का प्रकाश गोल चकतों में फर्श पर पड रहा है। उनमें उड़ते धूलिकण दीख रहे हैं। प्रकाश के वे अंग नहीं है, पर उन्होंने प्रकाश को धूमिल कर दिया है। वे प्रकाश को छू भी नहीं सकते हैं क्योंकि वे इतने भिन्न और विजातीय है, फिर भी प्रकाश उनके कारण मैला हो गया दीखता है। प्रकाश तो अब भी प्रकाश है। उसके स्वरुप में कोई भेद नहीं पड़ा है। पर उसकी देह उसकी अभिव्यक्ति अशुद्ध हो गई है। इन विजातीय अतिथियों के कारण आतियेय बदला हुआ दीख रहा है।

ऐसा ही मनुष्य की आत्मा के साथ भी हुआ है। उसमें भी बहुत से विजातीय धूलिकण अतिथि बन गये हैं और इन धूलिकणों में उसका जो स्वरुप है वह छिप गया है। आतियेय जैसे बहुत अतिथियों में खो जावे और पहचाना न जा सके, ऐसा ही हो गया है।

पर जो जीवन से परिचित होना चाहते है और सत्य का साक्षात् करना चाहते हैं, उनके लिये आवश्यक है कि वे अतिथियों की भीड़ में उसे पहचानें जो कि अतिथि नहीं है और गृहपति है। इस गृहपति को जानें बिना जीवन एक निद्रा है। उसकी पहचान से ही जागरण का प्रारम्भ होता है।

वह पहचान ही ज्ञान है। उस पहचान से उससे परिचय होता है जो कि नित्य शुद्ध बुद्ध है।

प्रकाश धूलिकणों से अशुद्ध नहीं होता है—न ही आत्मा होती है प्रकाश धूमिल हो जाता है : आत्मा विस्मरण हो जाती है। आत्मा के प्रकाश पर कौनसी धूल है ?

वह सब जो भी मुझ में बाहर से आया है-वह सब धूल है। उसके अतिरिक्त जो मुझमें है, वही मेरा स्वरूप है। इंद्रियों से जो भी उपलब्ध और संग्रहीत हुआ है, वह सब धूल है।

ऐसा क्या है मुझ में जो इंद्रियों से उपलब्ध नहीं है? रूप, रस, गंध, स्पर्श, ध्वनि-इनके अतिरिक्त और मुझमें क्या है?

वह सत्य है : चेतना-जो कि इंद्रियों से गृहीत नहीं है।

यह इंद्रियों से नहीं आई है-वरन् उनके पीछे है।

यह चेतना ही मेरा स्वरूप है : शेष सब विजातीय धूल है। वही गृहपति है, शेष सब अतिथि हैं। इस चेतना को ही जानना और उघाड़ना है : उसमें ही उस संपदा की उपलब्धि होती है जो कि अविनश्वर है।

५३.

भोर का आखिरी तारा डूब रहा है। कुहासे में ढकी सुबह का जन्म होने को है। पूरब पर प्रसव की लाली फैल गई है।

एक मित्र ने अपने किसी प्रियजन की मृत्यु की खबर दी है। रात्रि ही देह से उनका सम्बन्ध टूटा है। फिर, थोड़ी देर की चुप्पी के बाद वे मृत्यु पर बात करने लगे हैं। बहुत सी बातें और अंत में उन्होंने पूछा है: 'रोज मृत्यु होती है, फिर भी प्रत्येक ऐसे जीता जाता है कि जैसे उसे नहीं मरना है। यह समझ में ही नहीं आता है कि मैं भी मर सकता हूं। इतनी मृत्यु के बीच यह अमृत्व का विश्वास क्यों है?'
यह विश्वास बहुत अर्थपूर्ण है। यह इसलिये है कि मर्त्य देह में जो बैठा है, वह मर्त्य नहीं है। मृत्यु की परिधि है, पर केन्द्र पर मृत्यु नहीं है।

वह जो देख रहा—है देह-मन का दृष्टा—वह जानता है कि मैं देह और मन से पृथक हूं। वह मर्त्य का दृष्टा, मर्त्य नहीं है। वह जान रहा है: 'मेरी मृत्यु नहीं है। मृत्यु केवल देह परिवर्तन है। मैं नित्य हूं: सब मृत्युओं को पार करके भी मैं अमृत शेष रह जाता हूं।'
पर, यह बोध अचेतन है, इसे चेतना बना लेना ही मुक्त हो जाना है। मृत्यु प्रत्यक्ष दीखती है, अमृत का बोध परोक्ष है—उसे भी जो प्रत्यक्ष बना लेता है, वह जान लेता है उसे जिसका न जन्म है, न मृत्यु है।

वह जीवन—जो जीवन और मृत्यु के अतीत है—पा लेना ही मोक्ष है। यह प्रत्येक के भीतर है, उसे केवल जानना भर है।

एक साधु से किसी ने पूछा था : "मैं मृत्यु क्या है और जीवन क्या है ? यह जानने आपके पास आया हूं ?' उस साधु ने प्रत्युत्तर में जो कहा : वह अद्भुत है। उसने कहा था : 'तब कहीं और जाओ। मैं जहां हूं, वहां न मृत्यु है, न जीवन है।"

मैं कल कहा हूं : मिट्टी फूल बन जाती है । और गंदगी खाद बनकर सुगन्ध में परिणित होती है । ऐसे ही मनुष्य के विकार हैं । वे शक्ति हैं । जो मनुष्य में पशु जैसा दिखता है वही दिशा परिवर्तित होने पर दिव्यता को उपलब्ध हो जाता है ।

इसलिये अदिव्य भी बीज रूप में दिव्य है । और तब वस्तुतः अदिव्य कुछ भी नहीं है । समस्त जीवन दिव्यता है । सब कुछ दिव्य है । भेद केवल उस दिव्यता की अभिव्यक्ति के हैं ।

और ऐसा देखने पर कुछ भी घृणाकरने योग्य नहीं रह जाता है । जो एक छोर पर पशु है वही दूसरे छोर पर प्रभु है । पशुता में और दिव्यता में विरोध नहीं, विकास है । ऐसी पृष्ठ भूमि में चलने पर आत्म दमन और उत्पीड़न व्यर्थ है । वह सबयं अवैज्ञानिक है । अपने को दो में तोड़कर कोई कभी आत्म शान्ति और ज्ञान को उपलब्ध नहीं हो सकता है ।

जो मैं ही हूं उसके एक अंश को नष्ट नहीं किया जा सकता है । वह दब सकता है, लेकिन जिसे दमन किया गया है उसे निरंतर दमन करना होता है । जो हराया गया है उसे निरंतर हराना होता है । विजय उस मार्ग से कभी पूर्ण नहीं हो पाती है ।

विजय का पथ दूसरा है । वह दमन का नहीं, ज्ञान का है । वह गंदगी को हराने का नहीं है क्योंकि वह गंदगी भी मैं ही हूं । वह उसे खाद बनाने का है । इसे ही पुरानी अलकेमी में 'लोहे को स्वर्ण' बनाना कहा गया है ।

५६.

महावीर ने पूछा है : 'श्रमणों, प्राणियों को भय क्या है ?'

कल कोई यही पूछता था । और कोई पूछे या न पूछे, प्रश्न तो यही प्रत्येक की आंखों में है । शायद यह सनातन प्रश्न है और शायद यह अकेला ही प्रश्न है जो पूछना सार्थक भी है ।

प्रत्येक भयभीत है । ज्ञात में, अज्ञात में भय सरक रहा है । उठते बैठते, सोते जागते, भय बना हुआ है । प्रत्येक क्रिया में, व्यवहार में, विचार में, भय है । प्रेम में, घृणा में, पुन्य में, पाप में, सबमें भय है । जैसे हमारी पूरी चेतना ही भय से निर्मित है । हमारे विश्वास, धारणायें, धर्म और ईश्वर भय के अतिरिक्त और क्या है ?

यह भय क्या है ? भय के रूप अनेक हैं पर भय एक ही है । वह मृत्यु है । वह मूल भय है । मिटने की, न हो जाने की, संभावना ही समस्त भय के मूल में है । भय याने न हो जाने की, मिटने की आशंका । इस आशंका से बचने को पूरे जीवन प्रयास चलता है । सब प्रयास इस मूल असुरक्षा से बचने को हैं ।

पर पूरे जीवन दौड़कर भी 'होना' सुनिश्चित नहीं हो पाता है । दौड़ हो जाती है समाप्त. असुरक्षा वैसी ही बनी रहती है । जीवन हो जाता है पूरा और मृत्यु टल नहीं पाती है । उल्टे, जो जीवन दीखता था वह पूरा होकर मृत्यु में परिणित हो जाता है । तब ज्ञात होता है कि जीवन जैसे था ही नहीं, केवल मृत्यु विकसित हो रही थी । जन्म और मृत्यु जैसे मृत्यु के ही दो छोर थे ।

यह मृत्यु का भय क्यों है ? मृत्यु तो अज्ञात है : वह तो अपरिचित है । उसका भय कैसे होगा ? जो ज्ञात ही नहीं है उससे संबंध भी

क्या हो सकता है? वस्तुतः मृत्यु का भय जिसे हम कहते हैं वह मृत्यु का न होकर, जिसे हम जीवन जानते हैं, उसके खोने का डर है। जो ज्ञात है उसके खोने का भय है। जो ज्ञात है उससे हमारा तादात्म्य है। यही हमारा होना बन गया है। यही हमारी सत्ता बन गई है। मेरा शरीर, मेरी संपत्ति, मेरी प्रतिष्ठा : मेरे संबंध, मेरे संस्कार, मेरे विश्वास, मेरे विचार–यही मेरे 'मैं' के प्राण बन गये हैं। यही 'मैं' हो गया है। मृत्यु इस 'मैं' को छीन लेगी : यही भय है। इस सबको इकट्ठा किया जाता है भय से बचने को, सुरक्षा पाने को और होता उल्टा है : इसे खोने की आशंका ही भय बन जाती है। मनुष्य साधारणतः जो भी करता है, वह सब जिसके लिये किया जाता है उसके विपरीत चला जाता है। अज्ञान में आनन्द के लिये उठाये गये सब कदम दुख में ले जाते हैं। अभय के लिये चला गया रास्ता और भय में ले जाता है। जो 'स्व' की प्राप्ति मालूम होता है वह 'स्व' नहीं है। यदि इस सत्य के प्रति जागना हो जाये–यदि मैं यह जान सकूं कि जिसे मैंने 'मैं' जाना है वह 'मैं' नहीं हूं और इस क्षण भी मेरे तादात्म्यों से मैं भिन्न और पृथक हूं, तो भय विसर्जन हो जाता है। मृत्यु में जो पर है वही खोता है।

इस सत्य को जानने को कोई क्रिया, कोई उपाय नहीं करना है। केवल उन-उन तथ्यों को जानना है, उन-उन तथ्यों के प्रति जागना है जिन्हें मैं समझता हूं कि 'मैं' हूं। जिनसे मेरा तादात्म्य है। जागरण तादात्म्य तोड़ देता है। जागरण 'स्व' और 'पर' को पृथक कर देता है। स्व-पर का तादात्मय भय है, पृथक बोध भय मुक्ति है। अभय है।

५६.

एक साधु ने अपने आश्रम के अंतेवासियों को जगत् के विराट विद्यालय में अध्ययन के लिये यात्रा को भेजा था । समय पूरा होने पर वे सब, केवल एक को छोड़कर, वापिस लौट आये थे । उनके ज्ञानार्जन और उपलब्धियों को देखकर गुरु बहुत प्रसन्न हुआ था । वे बहुत कुछ सीखकर वापिस लौटे थे । फिर, अंत में पीछे छूट गया युवक भी लौटा । गुरु ने उससे कहा 'निश्चय ही तुम सबसे बाद में लौटे हो, इसलिये सर्वाधिक सीखकर लौटे होओगे ?' उस युवकने कहा: 'मैं कुछ भी सीखकर नहीं लौटा हूं, उल्टे जो आपने सिखाया था, वह भी भूल आया हूं ।' इससे अधिक निराशाजनक और क्या उत्तर हो सकता था ?

फिर, एक दिन वह युवक गुरु की मालिश करता था । गुरु की पीठ को मलते हुये उसने स्वगत ही कहा : 'मंदिर तो बहुत सुंदर है, पर भीतर भगवान की मूर्ति नही है ।' गुरु ने सुना । उसके क्रोध का ठिकाना न रहा । निश्चय ही वे शब्द उससे ही कहे गये थे । उसके ही सुंदर शरीर को उसने मंदिर कहा था । और, गुरु के क्रोध को देखकर वह युवक हसने लगा था । यह ऐसा ही था कि जैसे कोई जलती अग्नि पर घृत और डाल दे । गुरु ने उसे आश्रम से अलग कर दिया था ।

और फिर एक सुबह जब गुरु अपने धर्मग्रंथ का अध्ययन कर रहा था, वह युवक अनायास कहीं से आकर पास बैठ गया था । वह बैठा रहा, गुरु पढ़ता रहा । और, तभी एक जंगली मधुमक्खी कक्ष में आकर बाहर जाने का मार्ग खोजने लगी थी । द्वार तो खुला ही था, वही द्वार जिससे वह भीतर आई थी, पर वह बिलकुल अंधी होकर बंद खिड़की से निकलने की व्यर्थ चेष्टा कर रही थी । उसकी भनभन मंदिर के सन्नाटे में गूंज रही थी । उस युवक ने खड़े होकर जोर से

उस मधुमक्खी से कहा : 'ओ, नासमझ वहां द्वार नहीं, दीवार है। रुक और पीछे देख (Stop and see back) जहां से तेरा आना हुआ है, द्वार वहीं है।' मधुमक्खी ने तो नहीं, पर उस गुरु ने ये शब्द अवश्य सुने और उसे द्वार मिल गया। उसने उस युवक की आंखों में पहली बार देखा। वह वहीं नहीं था, जो यात्रा पर गया था। ये आंखें दूसरी हीं थीं। उसने उस दिन जाना कि वह जो सीखकर आया है, वह कोई साधारण सीखना नहीं है। वह सीखकर नहीं, कुछ जान कर आया था। उस गुरु ने उससे कहा : 'मैं आज जान रहा हूं कि मेरा मंदिर भगवान से खाली है, और मैं आज जान रहा हूं कि मैं आज तक दीवार से ही सिर मारता रहा हूं, और द्वार मुझे नहीं मिला है। पर अब मैं द्वार को पाने के लिये क्या करूं, और क्या करूं कि मेरा मंदिर भगवान से खाली न रहे?' उस युवक ने कहा 'भगवान को चाहते हो, तो स्वयं से खाली हो जाओ। जो स्वयं से भरा है, वही भगवान से खाली है, और जो स्वयं से खाली हो जाता है, वह पाता है कि वह सदा से ही भगवान से भरा हुआ था। और, इस सत्य तक द्वार पाना चाहते हो, तो वही करो जो अब वह मधुमक्खी कर रही है।' गुरु ने देखा कि वह मधुमक्खी अब कुछ भी नहीं कर रही थी। वह दीवार पर बैठी है, और बस बैठी है। उसने समझा। उसने जाना। जैसे अंधेरे में बिजली कौंध गई हो, ऐसे उसने जाना। और, उसने यह भी देखा कि वह मधुमक्खी द्वार से बाहर जा रही है।

यह कथा मेरा पूरा संदेश है। यही मैं कह रहा हूं। भगवान को पाने को कुछ करना नहीं है, वरन् सब करना छोड़के देखना है।

५६.

एक साधु ने अपने आश्रम के अंतेवासियों को जगत् के विद्यालय में अध्ययन के लिये यात्रा को भेजा था। समय पर वे सब, केवल एक को छोड़कर, वापिस लौट आये थे ज्ञानार्जन और उपलब्धियों को देखकर गुरु बहुत प्रसन्न हुए वे बहुत कुछ सीखकर वापिस लौटे थे। फिर, अंत में पीछे युवक भी लौटा। गुरु ने उससे कहा : 'निश्चय ही तुम सबसे लौटे हो, इसलिये सर्वाधिक सीखकर लौटे होओ उस युवकेने कहा : 'मैं कुछ भी सीखकर नहीं लौटा हूं, उल्टे सिखाया था, वह भी भूल आया हूं।' इससे अधिक निरा और क्या उत्तर हो सकता था ?

फिर, एक दिन वह युवक गुरु की मालिश करता था पीठ को मलते हुये उसने स्वगत ही कहा : 'मंदिर तो बहुत पर भीतर भगवान की मूर्ति नहीं है।' गुरु ने सुना। उसके ठिकाना न रहा। निश्चय ही वे शब्द उससे ही कहे गये थे ही सुंदर शरीर को उसने मंदिर कहा था। और, गुरु के देखकर वह युवक हंसने लगा था। यह ऐसा ही था कि जलती अग्नि पर घृत और डाल दे। गुरु ने उसे आश्रम से दिया था।

और फिर एक सुबह जब गुरु अपने धर्मग्रंथ का अध्ययन था, वह युवक अनायास कहीं से आकर पास बैठ गया था रहा, गुरु पढ़ता रहा। और, तभी एक जंगली मधुमक्खी आकर बाहर जाने का मार्ग खोजने लगी थी। द्वार तो खुला वही द्वार जिससे वह भीतर आई थी, पर वह बिल्कुल अं बंद खिड़की से निकलने की व्यर्थ चेष्टा कर रही थी। उसकी मंदिर के सन्नाटे में गूंज रही थी। उस युवक ने खड़े होक

उस मधुमक्खी से कहा : 'ओ, नासमझ वहां द्वार नहीं, दीवार है। रुक और पीछे देख (Stop and see back) जहां से तेरा आना हुआ है, द्वार वहीं है।' मधुमक्खी ने तो नहीं, पर उस गुरु ने ये शब्द अवश्य सुने और उसे द्वार मिल गया। उसने उस युवक की आंखों में पहली बार देखा। वह वही नहीं था, जो यात्रा पर गया था। ये आंखें दूसरी ही थीं। उसने उस दिन जाना कि वह जो सीखकर आया है, वह कोई साधारण सीखना नहीं है। वह सीखकर नहीं, कुछ जान कर आया था। उस गुरु ने उससे कहा 'मैं आज जान रहा हूं कि मेरा मंदिर भगवान से खाली है, और मैं आज जान रहा हूं कि मैं आज तक दीवार से ही सिर मारता रहा हूं, और द्वार मुझे नहीं मिला है। पर, अब मैं द्वार को पाने के लिये क्या करूं, और क्या करूं कि मेरा मंदिर भगवान से खाली न रहे?' उस युवक ने कहा 'भगवान को चाहते हो, तो स्वयं से खाली हो जाओ। जो स्वयं से भरा है, वही भगवान से खाली है, और जो स्वयं से खाली हो जाता है, वह पाता है कि वह सदा से ही भगवान से भरा हुआ था। और, इस सत्य तक द्वार पाना चाहते हो, तो वही करो जो अब वह मधुमक्खी कर रही है।', गुरु ने देखा कि वह मधुमक्खी अब कुछ भी नहीं कर रही थी। वह दीवार पर बैठी है, और बस बैठी है। उसने समझा। उसने जाना। जैसे अंधेरे में बिजली कौंध गई हो, ऐसे उसने जाना। और, उसने यह भी देखा कि वह मधुमक्खी द्वार से बाहर जा रही है।

यह कथा मेरा पूरा संदेश है। यही मैं कह रहा हूं। भगवान को पाने को कुछ करना नहीं है, वरन् सब करना छोड़के देखना है।

चित्त जब शांत होता है, और देखता है, तो द्वार मिल जाता है। शांत और शून्य चित्त ही द्वार है। उस शून्य के लिये ही मेरा आमंत्रण है। वह आमन्त्रण धर्म का ही है। उस आमंत्रण को स्वीकार कर लेना ही धार्मिक होना है।

८७.

नील आकाश के नीचे सूरज की गर्माहट फैल गई है। सर्दी घनी हो गई है और दूब पर जमे ओस कण वर्फ जैसे ठंडे लगते हैं। फूलों से ओस की बूंदें टपक रहीं हैं। रात रानी रात भर सुगंध देकर सो गई है।

एक मुर्गा वांग देता है और फिर दूर दूर से उसके प्रत्युत्तर आते हैं। वृक्ष मलय के झोंकों से कंप रहे हैं और चिड़ियों के गीत बंद ही नहीं होते हैं।

सुबह अपने हस्ताक्षर सब जगह कर देती है। सारा जगत् अचानक कहने लगता है कि सुबह हो गई है।

मैं बैठा दूर वृक्षों में खो गये रास्ते को देखा करता हूं। धीरे धीरे राह भरने लगती है और लोग निकलने लगते हैं। वे चलते पर सोये से लगते हैं। किसी आंतरिक तंद्रा ने सबको पकड़ा हुआ है। सुबह के इन आनन्द क्षणों के प्रति वे जागे हुये नहीं लगते हैं, जैसे कि उन्हें ज्ञात ही नहीं कि जो जगत् के पीछे है वह इन क्षणों में अनायास ही प्रगट हो जाता है।

जीवन में कितना संगीत है और मनुष्य कितना बधिर है।

जीवन में कितना सौंदर्य है और मनुष्य कितना अंधा है।

जीवन में कितना आनन्द है और मनुष्य कितना संवेदन शून्य है।

उस दिन अभी पहाड़ियों पर गया था। उन सुन्दर पर्वत पंक्तियों में हम देर तक रुके थे पर जो मेरे साथ थे वे जीवन की दैनंदिन क्षुद्र बातों में ही लगे रहे थे। उन सब बातों में जिनका कोई अर्थ नहीं, जिनका होना न होना बराबर है। इन बातों की ओट ने उन्हें उस पर्वतीय संध्या के सौंदर्य से वंचित कर दिया था। इस तरह क्षुद्र में

आवेष्ठित हम विराट से अपरिचित रह जाते हैं, जो निकट ही है यह अपने ही हाथों दूर पड़ जाता है।

मैं कहना चाहता हूं : ओ मनुष्य ! तुझे खोना कुछ भी नहीं है, सिवाय अपने अंधेपन के और पा लेना है सब कुछ। अपने हाथों बन भिखारी ! आंखें खोल। पृथ्वी और स्वर्ग का सारा राज्य तेरा है।

९८.

कल दोपहर एक पहाडी के अंचल में थे। धूप छाया के विस्तार में बड़ी सुखद घड़ियां बीती, निकट ही था एक तालाब और हवा के तेज थपेड़ों ने उसे बेचैन कर रखा था। लहरें उठती गिरतीं और टूटतीं। उसका सब कुछ विक्षुब्ध था।

फिर हवाये सो गई और तालाब भी सो गया।

मैंने कहा "देखो, जो बेचैन होता है वह शान्त भी हो सकता है। बेचैनी अपने में शान्ति को छिपाये हुये है। तालाब अब शान्त है। तब भी शान्त था। लहरें ऊपर ही थीं, भीतर पहले भी शान्ति थी।"

मनुष्य भी ऊपर ही अशान्त है। लहरें ऊपर ही हैं, अंतर गहराई में घना मौन है। विचारों की हवाओं से दूर चलें और शान्त सरोवर के दर्शन शुरु हो जाते हैं। यह सरोवर अभी और यहीं पाया जा सकता है। समय का प्रश्न ही नहीं है क्योंकि समय वहीं तक है जहां तक विचार है। ध्यान समय के बाहर है, ईसा ने कहा है: "और यहां समय नही है।"

समय मे दुख है। समय दुख है। समयातीत होना आनन्द में होना है। समयातीत होना आनन्द होना है।

चलो मित्र। समय के बाहर चलें—वहीं सत्य है। सत्य के अंतर जो दीखता है वह समय के बाहर ही है। इतना जानना ही जगना है। जाना कि हवायें रुक जाती है और सरोवर शान्त हो जाता है।

९१.

मैं मनुष्य को शब्दों से घिरा देखता हूं। पर शास्त्र और शब्द व्यर्थ हैं। उस भांति सत्य के सम्बन्ध में जाना जा सकता है लेकिन सत्य को जानने का वह मार्ग नहीं है।

शब्द से सत्ता नहीं आती है। सत्ता का द्वार शून्य है।

शब्द से निःशब्द में छलांग लगाने का साहस ही धार्मिकता है।

विचार पर को जानने का उपाय है। वह स्व को नहीं देता है। स्व उसके भी पीछे जो है। स्व सबके पूर्व है। स्व से हम सत्ता में संयुक्त हैं। विचार भी पर है। वह भी जब नहीं है तब वह 'जो है' होता है। उसके पूर्व मैं 'अहं' हूं : उसमें 'ब्रह्म' हूं।

सत्य में—सत्ता में स्व-पर मिट जाता है। वह भेद भी विचार में और विचार का ही था।

चेतना के तीन रूप हैं : १. बाह्य मूर्च्छित-अंतर्मूर्च्छित. २. बाह्य जागृत—अंतर मूर्च्छित. और ३. बाह्य जागृत—अंतर जागृत। पहला रूप मूर्च्छा-अचेतना का है। वह जड़ता है। वह विचार पूर्व स्थिति है। दूसरा रूप अर्ध मूर्च्छा—अर्ध चेतना का है। वह जड़ और चेतन के बीच है। वह विचार की स्थिति है। तीसरा रूप अमूर्च्छा—पूर्ण चेतना का है। वह पूर्ण चैतन्य है और विचारातीत है।

सत्य को जानने को केवल विचाराभाव ही नहीं पाता है। वह तो जड़ता में, मूर्च्छा में ले जाता है। धर्म के नाम से प्रचलित बहुत सी क्रियायें मूर्च्छा में ही ले जाती हैं। शराब, सेक्स और संगीत में ही ले जाते हैं। मूर्च्छा में पलायन है। वृ

सत्य को पाने को विचार शून्यता स्थिति का नाम ही समाधि है।

६०.

पूर्णिमा है, लेकिन आकाश बादलों से ढंका है।

मैं राह से आया हूं। एक रेत की ढेर पर कुछ बच्चे खेल रहे थे। उनने रेत के कुछ घर बनाये और उस पर से ही उनके बीच में झगडा हो गया था। रेत के घरों पर ही सारे झगड़े होते हैं! वे तो बच्चे ही थे, पर थोड़ी देर में जो बच्चे नहीं थे, वे भी उसमें सम्मिलित हो गये। बच्चों के झगड़े में बाद में उनके बड़े भी सम्मिलित हो गये थे।

मैं किनारे खड़ा सोचता रहा कि बच्चों और बड़ों का विभाजन कितना कृत्रिम है। आयु वस्तुतः कोई भेद नहीं लाती, और उससे प्रौढ़ता का कोई सम्बन्ध नहीं है।

हम में से अधिक बच्चे ही मर जाते हैं। लाओत्से के संबंध में कथा है कि वह बूढ़ा ही पैदा हुआ था। यह बात बहुत अस्वाभाविक लगती है। पर क्या इससे भी अधिक अस्वाभाविक घटना यह नहीं है कि कोई मरते समय तक भी प्रौढ़ता को उपलब्ध न हो पाये? शरीर विकसित हो जाते हैं, पर चित्त वही का वही ठहरा रह जाता है। तभी तो संभव है कि रेत के घरों पर झगड़े चले और आदमी-आदमी के वस्त्रों को उतार क्षण में नग्न हो जावे और जाहिर कर दे कि सब विकास की बातें व्यर्थ हैं और कौन कहता है कि मनुष्य पशु से पैदा हुआ है? मनुष्य के पशु से पैदा होने की बात गलत है क्योंकि वह तो अभी भी पशु ही है?

क्या अभी मनुष्य पैदा नहीं हुआ है?

मनुष्य को गहरा देखने में जो उत्तर मिलता है, वह 'हां' में नहीं मिलता है। डायोजिनीज दिन को, भरी दोपहर में भी अपने

साथ एक जलती हुई कन्दील लिये रहता था, और कहता था कि मैं मनुष्य को खोज रहा हूं। वह जब वृद्ध हो गया था तो किसी ने उससे पूछा कि क्या उसे अब भी 'मनुष्य' को खोज लेने की आशा है। उसने कहा: "हां। क्योंकि अब भी जलती हुई कन्दील मेरे पास है।"

मैं खड़ा रहा हूं और उस रेत के ढेर के पास बहुत भीड़ इकट्ठी हो गई है और लोग गाली गलौज का और एक दूसरे को डराने धमकाने का बहुत रस-मुग्ध हो पान कर रहे हैं। जो लड़ रहे हैं, उनकी आंखों में भी बहुत चमक मालूम हो रही है। कोई पाशविक आनंद जरुर उनकी आंखों और गतिविधियों में प्रवाहित हो रहा है।

जिब्रान ने लिखा है : "एक दिन मैंने खेत में खड़े एक काठ के पुतले से पूछा : 'क्या तुम इस खेत में खड़े खड़े उकता नहीं जाते हो? उसने उत्तर दिया : 'आह ! पक्षियों को डराने का आनंद इतना अधिक है कि समय कब बीत जाता है, कुछ पता ही नहीं पड़ता। मैंने क्षण भर सोचकर कहा : 'यह सत्य है क्योंकि मुझे भी इस आनंद का अनुभव है। 'वह पुतला बोला : 'हां, वही व्यक्ति जिसके शरीर में घास फूस भरा है, इस आनंद से परिचित हो सकते हैं।" पर, इस आनंद से तो सभी परिचित मालूम होते हैं। क्या हम सबके भीतर भी घास फूस ही नहीं भरा हुआ है–और क्या हम भी खेत में खड़े झूठे आदमी ही नहीं हैं?

उस रेत के ढेर पर यही आनंद देखकर लौटा हूं और क्या सारी पृथ्वी के ढेर पर भी यही आनंद नहीं चल रहा है?

यह अपने से पूछता हूं और रोता हूं। उस मनुष्य के लिये रोता हूं, जो कि पैदा हो सकता है, पर पैदा हुआ नहीं है। जो कि प्रत्येक के भीतर है, पर वैसे ही छिपा है, जैसे राख में अंगार छिपा होता है।

वस्तुतः शरीर घास फूस के ढेर से ज्यादा नहीं है और जो उस पर समाप्त है, अच्छा था कि वह किसी खेत में होता तो कमसे कम फसलों को पक्षियों से बचाने के काम में तो आ जाता ? मनुष्य की सार्थकता तो उतनी भी नही है ।

शरीर से जो अतीत है, उसे जाने बिना कोई मनुष्य नहीं बनता है । आत्मा को जाने बिना कोई मनुष्य नहीं बनता है । मनुष्य की भांति पैदा हो जाना एक बात है, मनुष्य होना बिल्कुल दूसरी बात है ।

मनुष्य को तो स्वयं को स्वयं के भीतर ही जन्म देना होता है । वह वस्त्रों की भांति नही है कि उसे ओढ़ा जा सके । मनुष्यता के वस्त्रों को ओढ़कर कोई मनुष्य नही बनता है क्योंकि वे उसी समय तक उसे मनुष्य बनाये रखते है, जब तक कि मनुष्यता की वस्तुतः कोई आवश्यकता नही पड़ती है । आवश्यकता आते ही, वे कब गिर जाते है, ज्ञात भी नही हो पाता है ।

बीज जैसे अपने प्राणों को परिवर्तित कर अंकुर बनता है, किन्हीं वस्त्रों को धारण करके नहीं, वैसे ही मनुष्य को भी अपनी समस्त प्राण सत्ता एक नये ही आयाम में अंकुरित करनी होती है, तभी उसका जन्म होता है, और परिवर्तन होता है ।

और तब उसका आनद कांटों को फेकने में नहीं, कांटों को उठाने में और फूलों को बिखेरने मे परिणित हो जाता है । वह घड़ी ही घोषणा करती है कि अब वह घास फूस नही है—मनुष्य—है देह नहीं, आत्मा है ।

गुरजिएफ ने कहा है : 'इस भ्रम को छोड़ दें कि प्रत्येक के पास आत्मा है ।' सच ही जो सोया है, उसके पास आत्मा है या नहीं, इससे क्या अंतर पड़ता है । वही वास्तविक है, जो है । **आत्मा सबकी संभावना है, पर उसे जो सत्य बनाता है, वही उसे पाता है ।**

६१.

मैं तीन छोटे छोटे शब्दों पर मनुष्य की समग्र चेतना को घूमते हुये देखता हूं। वे तीन शब्द कौन से हैं?

वे शब्द हैं: विवेक, वुद्धि और वृत्ति।

विवेक से श्रेष्ठतम चलते हैं। वुद्धि से वे जो मध्यम हैं। और वृत्ति चेतना की निम्नतम दिशा है।

वृत्ति पाशविक है। वुद्धि मानवीय है। विवेक दिव्य है।

वृत्ति सहज और अंधी है। वह निद्रा है। वह अचेतन का जगत है। वहां न शुभ है न अशुभ। कोई भेद वहां नही है इससे कोई अंतःसंघर्ष भी नहीं है। वह अंधी वासनाओं का सहज प्रवाह है।

वुद्धि न निद्रा है न जागरण। वह अर्ध मूर्च्छा है। वह वृत्ति और विवेक के वीच संक्रमण है। वह दहलीज है। उसमें एक अंश चैतन्य हो गया है लेकिन शेष अचेतन है। इससे भेद वोध है। शुभ अशुभ का जन्म है। वासना भी है, विचार भी है।

विवेक पूर्ण जागृति है। वह शुद्ध चैतन्य है। वह केवल प्रकाश है। वहां भी कोई संघर्ष नहीं है। वह भी सहज है, वह शुभ का, सत् का, सौंदर्य का सहज प्रवाह है।

वृत्ति भी सहज, विवेक भी सहज। वृत्ति अंधी सहजता, विवेक सजग सहजता। बुद्धि भर असहज है। उसमे पीछे की ओर वृत्ति है आगे की ओर विवेक है। उसके शिखर की लौ विवेक की ओर और आधार की जड़ें वृत्ति में हैं। सतह कुछ, तलहटी कुछ। यहीं खिंचाव है। पशु मे डूबने का आकर्षण—प्रभु में उठने की चुनौती—दोनों एक साथ हैं!

इस चुनौती से डरकर जो पशु में डूबने का प्रयास करते हैं वे भ्रान्ति में हैं। जो अंश चैतन्य हो गया है वह अब अचेतन नहीं हो सकता है। जगत व्यवस्था में पीछे लौटने का कोई मार्ग नहीं है।

इस चुनौती को मानकर जो सतह पर शुभ अशुभ का चुनाव करते हैं वे भी भ्रान्ति में हैं। उस तरह का चुनाव व आचरण परिवर्तन सहज नहीं हो सकता है। वह केवल चेष्ठित अभिनय है। जो चेष्टित है वह शुभ भी नहीं है। प्रश्न सतह पर नहीं है प्रश्न तलहटी में है। वहां जो सोया है उसे जगाना है। अशुभ नहीं मूर्च्छा छोड़नी है।

अंधेरे में दिया जलाना है।

यह आज कहा हूं।

६२.

दोपहर की शान्ति । उजली धूप और पौधे सोये-सोये से । एक जामुन की छाया तले दूब पर आ बैठा हूं । रह-रह कर पत्ते ऊपर गिर रहे हैं : अंतिम पुराने पत्ते मालूम होते हैं । सारे वृक्षों पर नई पत्तियां आ गई हैं और नई पत्तियों के साथ न मालूम कितनी नई चिड़ियों और पक्षियों का आगमन हुआ है । उनके गीतों का जैसे कोई अंत ही नहीं है। कितने प्रकार की मधुर ध्वनियां इस दोपहर में संगीत दे रहीं हैं, सुनता हूं और सुनता रहता हूं और फिर मैं भी एक अभिनव संगीत लोक में चला जाता हूं ।

स्व का लोक संगीत का लोक ही है ।

यह संगीत प्रत्येक के पास है । इसे पैदा नहीं करना होता है । केवल वह सुन पड़े इसके लिये मौन होना होता है । चुप होते ही कैसा एक पर्दा उठ जाता है । जो सदा से था वह सुन पड़ता है और पहली बार ज्ञात होता है कि हम दरिद्र नहीं हैं । एक अनन्त संपत्ति का पुनर्अधिकार मिल जाता है । फिर कितनी हंसी आती है—जिसे खोजते थे, वह भीतर ही बैठा था !

६२.

रात पानी पड़ा है। उसका गीलापन अभी तक है और मिट्टी से सोंधी सुगन्ध उठ रही है। सूरज काफी ऊपर उठ आया है और गायों का एक झुंड जंगल जा रहा है। उनकी काठ की घंटियां बड़ी मधुर होकर बज रही हैं। मैं थोड़ी देर तक उन्हें सुनता रहा हूं। अब गायें दूर निकल गई हैं और घंटियों की फीकी प्रतिध्वनि ही बाकी रह गई है।

इतने में कुछ लोग मिलने आये हैं, पूछ रहे हैं : 'मृत्यु क्या है ?'

मैं कहता हूं, जीवन को हम नहीं जानते हैं, इसलिये मृत्यु है। स्व विस्मरण मृत्यु है। अन्यथा मृत्यु नहीं है, केवल परिवर्तन है। 'स्व' को न जानने से एक कल्पित 'स्व' हमने निर्मित किया है। यही है हमारा 'मैं'—अहंकार। यह है नहीं, केवल भासता है। यह झूठी इकाई ही मृत्यु में टूटती है। इसके टूटने से दुख होता है क्योंकि इसीसे हमने अपना तादात्म्य स्थापित किया था। जीवन में [illegible] भ्रांति को पहचान लेना मृत्यु से बच जाना है। जीवन को [illegible] और मृत्यु समाप्त हो जाती है। जो है वह अमृत है उसे [illegible] नित्य, शाश्वत जीवन उपलब्ध हो जाता है।

कल एक सभा मे यही कहा हूं .

स्व [illegible] है।
स्व विस्मरण मृत्यु है।

६४.

एक अध्यापक हैं। धर्म में उनकी अभिरुचि है। धर्म ग्रंथों के अध्ययन में जीवन लगाया है। धर्म की बात उठे तो उनके विचार प्रवाह का अंत नहीं होता है। एक अंतहीन फीते की भांति उनके विचार निकलते आते हैं। कितने उद्धरण और कितने सूत्र उन्हें याद हैं, कहना कठिन है। कोई भी उनसे प्रभावित हुये बिना नहीं रहता है। वे एक चलते फिरते विश्व कोष हैं, ऐसी ही उनकी ख्याति है। कई बार मैं उनके विचार सुना हूं और मौन रहा हूं। एक बार, उन्होंने मुझ से पूछा : मेरा उनके संबंध में क्या ख्याल है ? मैं जो सत्य था वही कहा। कहा कि 'ईश्वर के संबंध में विचार इकट्ठा करने में उन्होंने ईश्वर को गंवा दिया है।' वे निश्चित ही चौंक गये मालूम हुये थे। फिर बाद में आये भी। उसी संबंध में पूछने आये थे। आकर कहा कि : 'अध्ययन और मनन से ही तो सत्य को पाया जा सकता है। और तो कोई मार्ग भी नहीं है। ज्ञान ही तो सब कुछ है।' यह भ्रांत विचार कितनों का नहीं है ?

मैं ऐसे सारे लोगों से एक ही प्रश्न पूछता हूं। वही उनसे भी पूछा था कि अध्ययन क्या है और उससे आपके भीतर क्या हो जाता है ? क्या कोई नई दृष्टि या आयाम पैदा हो जाता है—क्या चेतना किसी नये स्तर पर पहुंच जाती है क्या सत्ता में कोई क्रांति हो जाती है क्या आप जो हैं उससे भिन्न और अन्यथा हो जाते हैं? या कि आप वही रहते हैं और केवल कुछ और विचार, और सूचनायें आपकी स्मृति का अंग बन जाती हैं ? अध्ययन से केवल स्मृति प्रशिक्षित होती है, और मन की सतही पर्त पर विचार की धूल जम जाती है। इससे ज्यादा परिवर्तन नहीं होता है। चेतना वहीं की वहीं रहती है।

अनुभूति के आयाम वहीं के वहीं रहते हैं । सत्य के संबंध में कुछ जानना और सत्य को जानना दो बिल्कुल भिन्न बातें हैं । 'सत्य के संबंध में जानना' बुद्धिगत है, 'सत्य को जानना' चेतनागत है ।

सत्य को जानने के लिये चेतना की परिपूर्ण जागृति—उसकी अमूर्च्छा आवश्यक है । स्मृति प्रशिक्षण और संग्रथित ज्ञान से यह नहीं हो सकता है । जो स्वयं नहीं जाना गया है, वह ज्ञान नहीं है । शास्त्र से, अज्ञात सत्य के संबंध में जो बौद्धिक जानकारी है, वह ज्ञान आभास है । वह मिथ्या है और सम्यक् ज्ञान के मार्ग में बाधा है । अस्तित्व में जो अज्ञात है उसे जानने का ज्ञात से कोई मार्ग नहीं है । वह तो बिल्कुल नया—है वह तो ऐसा है जो पूर्व कभी नहीं जाना गया है, इसलिये स्मृति उसे देने या उसकी प्रत्यभिज्ञा में भी समर्थ नहीं है । स्मृति केवल उसे ही दे सकती है उसकी ही प्रत्यभिज्ञा भी उससे आ सकती है जोकि पहले भी जाना गया है । वह ज्ञान की ही पुनरुक्ति है ।

लेकिन जो नवीन है, एकदम अभिनव, अज्ञात और पूर्व अपरिचित उसके आने के लिये तो स्मृति को हट जाना होगा । स्मृति को, समस्त ज्ञात विचारों को हटना होगा, ताकि नये का जन्म हो सके, ताकि जो है वह वैसा ही जाना जा सके जैसा कि है । मनुष्य की समस्त धारणायें और पूर्वाग्रह उसके आने के लिये हटने आवश्यक हैं । विचार, स्मृति और धारणा शून्य मन ही अमूर्च्छा है, जागृति है । इसके आने पर ही केन्द्र पर परिवर्तन होता है, और सत्य का द्वार खुलता है । इसके पूर्व सब भटकन है, और जीवन अपव्यय है ।

६८.

एक साधु कल कह रहे थे :

'मैं संसार की ओर प्रवृत्ति छोड़ दिया हूं, अब तो प्रवृत्ति मोक्ष की ओर है। यही निवृत्ति है। संसार की ओर प्रवृत्ति मोक्ष के प्रति निवृत्ति है : मोक्ष के प्रति प्रवृत्ति संसार के प्रति निवृत्ति है।'

यह बात दीखने मे कितनी ठीक और समझ भरी मालूम होती है। कहीं कोई चूक दिखाई नहीं देती है। बिल्कुल बुद्धि और तर्क युक्त है पर उतनी ही व्यर्थ भी है। ऐसे ही शब्दों के खेल में कितने लोग प्रवंचना मे पड़े रहते हैं। बुद्धि और तर्क आत्मिक जीवन के संबंध में कहीं भी ले जाते नहीं मालूम होते हैं।

मैं उनसे कहा : 'आप शब्दों में उलझ गये हैं। 'संसार की ओर प्रवृत्ति का कोई अर्थ नहीं है, असल में प्रवृत्ति ही संसार है। वह किस ओर है इससे कोई अंतर नहीं पड़ता है: बस, उसका होना ही संसार है। वह धन की ओर हो तो, वह धर्म की ओर हो तो—उसका स्वरूप एक ही है। प्रवृत्ति मनुष्य को अपने से बाहर ले जाती है। वह वासनाहै, वह फलासक्ति है, वह कुछ होने की तृष्णा और दौड़ है। 'अ' 'ब' होना चाहता—है यह उसका रूप है और जब तक कुछ होने की वासना है तब तक वह 'जो है' उसका होना नहीं हो पाता है। इस 'है' का उद्घाटन ही मोक्ष है। 'मोक्ष' कोई वस्तु नहीं है, जिसे कि पाना है। वह वासना का कोई विषय नहीं है, इससे उसकी ओर प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। वह तो तब है जब कोई प्रवृत्ति नहीं होती, मोक्ष की भी नहीं—तब जो होता है उसका नाम मोक्ष है। इससे, मोक्ष को पाना नहीं है, असल में पाना छोड़ना है और मोक्ष पा लिया जाता है।

६६.

मनुष्य जिसे जगत् कहता है वह सत्ता की सीमा नहीं है। वह केवल मनुष्य की इन्द्रियों की सीमा है। इन इन्द्रियों के पार असीम विस्तार है। इस असीम को इन्द्रियों से कभी भी पूरा-पूरा नहीं पाया जा सकता है। क्योंकि इंद्रियां खंड को देखती हैं-अंश को देखती हैं और जो असीम है, अनन्त है वह खंडित और विभाजित नहीं होता है। जो असीम है उसे मापने को कोई सीमित साधन काम नहीं दे सकता है। जो असीम है वह केवल असीम से ही पकड़ा जा सकता है।

और, जिन्होंने उसे जाना है, उन्होंने इंद्रियों से, बुद्धि से नहीं, स्वयं असीम होकर उसे जाना है। यह संभव है क्योंकि इस क्षुद्र और सीमित दीखते मनुष्य में असीम भी उपस्थित है। इन्द्रियों पर उसकी परिसमाप्ति नहीं है। वह इंद्रियों मे है पर इंद्रिया ही नहीं है। वह इन्द्रीयातीत आयाम मे भी फैला हुआ है। वह जितना दिखता है, वहां उसकी समाप्ति सीमा नहीं, शुरुआत है। वह अदृश्य है। दृश्य के घेरे में अदृश्य बैठा हुआ है। इस अदृश्य को वह अपने भीतर पा ले तो जगत् के समस्त अदृश्यों को पा लेता है। क्योंकि समस्त भाग और खंड दृश्य के हैं। अदृश्य अखंडित है। एक और अनेक यहां एक ही है। और इसलिये एक को ही पा लेने से सबको पा लिया जाता है। कहा है महावीर ने - जे एगम जाणई से सव्वम् जाणई। एक को जाना कि सबको जाना। यह एक भीतर है। यह एक दृश्य नहीं, दृष्टा है। इससे इसे पाने का मार्ग आंख नहीं है। आंख बन्द करना इसका मार्ग है। आंख बन्द करने का अर्थ है: दृश्य से मुक्ति। आंख बंद हो और भीतर दृश्य बहते हों तो आंख खुली ही है। दृश्य [illegible] और

आंख खुली हो तो भी आंख बन्द है। दृश्य न हो और केवल दृष्टि, केवल दर्शन रह जावे तो दृष्टा प्रगट हो जाता है। जिस दर्शन से दृष्टा दिखे वह सम्यक् दर्शन है। यह दर्शन जब तक नहीं तब तक मनुष्य अंधा होता है। आंखें होते हुये भी आंख नहीं होती है। इस दर्शन से चक्षु मिलते हैं। वास्तविक चक्षु, इंद्रियातीत चक्षु और सीमायें मिट जाती हैं। रेखायें मिट जाती हैं और जो है आदि अंतहीन, विस्तार-ब्रह्म-वह उपलब्ध होता है।

यह उपलब्धि ही मुक्ति है, क्योंकि प्रत्येक सीमा बन्धन है, प्रत्येक सीमा परतंत्रता है। सीमा से ऊपर होना स्वतंत्र होना है।

६७.

एक प्रवचन कल सुना है। उसका सार था : आत्म दमन। प्रचलित रूढ़ि यही है। सोचा जाता है कि सबसे प्रेम करना है पर अपने से--अपने से घृणा करनी है। स्वयं अपने से शत्रुता करनी है, तब कहीं आत्म जय होती है। पर यह विचार जितना प्रचलित है उतना ही गलत भी है। इस मार्ग में व्यक्तित्व द्वैत में टूट जाता है और आत्म हिंसा की शुरुआत होती है और हिंसा सब कुरूप कर देती है।

मनुष्य को वासनायें इस तरह दमन नहीं करनी हैं न की जासकती हैं। यह हिंसा का मार्ग धर्म का मार्ग नहीं है। इसके परिणाम में ही शरीर को सताने के कितने रूप विकसित हो गये हैं। उनमें दीखती है तपश्चर्या, पर है वस्तुतः हिंसा का रस--दमन और प्रतिरोध का सुख। यह तप नहीं, आत्म वंचना है।

मनुष्य को अपने से लड़ना नहीं, अपने को जानना है। पर जानना अपने को प्रेम करने से शुरू होता है। अपने को सम्यक् रूपेण प्रेम करना है। न तो वासनाओं के पीछे अंधा होकर दौड़ने वाला अपने को प्रेम करता है--न वासनाओं में अंधा होकर लड़ने वाला अपने को प्रेम करता है। वे दोनों अंधे हैं और पहले अंधेपन की प्रतिक्रिया में दूसरे अंधेपन का जन्म हो जाता है। एक वासनाओं में अपने को नष्ट करता है, एक उनसे लड़कर अपने को नष्ट कर लेता है।

वे दोनों अपने प्रति घृणा से भरे हैं। ज्ञान का प्रारम्भ अपने को प्रेम करने से होता है।

मैं जो भी हूं, उसे स्वीकार करना है--उसे प्रेम करना है और इस स्वीकृति और इस प्रेम में ही वह प्रकाश उपलब्ध होता है जिससे

सहज सब कुछ परिवर्तन हो जाता है। इससे ही एक अभिनव सौंदर्य का व्यक्तित्व में उदय होता है—एक संगीत का, और एक शान्ति का और एक आनन्द का—जिनके समग्रीभूत प्रभाव का नाम आध्यात्मिक जीवन है।

दूसरे ने कहा : 'मेरी दृष्टि में सत्य अंतर्दृष्टि है। उसे एक बार पा लिया तो पा लिया, फिर उसका खोना नहीं है।'

बोधिधर्म बोला : 'तेरे पास मेरा मांस है।'

तीसरे ने कहा : 'मैं मानता हूं कि पंच महाभूत शून्य है और पंच स्कंध भी अवास्तविक है। यह शून्यता ही सत्य है।'

बोधिधर्म बोला : 'तेरे पास मेरी हड्डियां है।'

और अंततः वह उठा जो जानता था। उसने गुरु के चरणों में सिर रख दिया और मौन रहा। वह चुप था और उसकी आंखें शून्य थीं।

बोधिधर्म बोला : 'तेरे पास मेरी मज्जा है--मेरी आत्मा है।'

और यही कहानी मेरा उत्तर है।

६९.

एक मंदिर में बोलने गया था। बोलने के बाद एक युवक ने कहा : 'क्या मैं एक प्रश्न पूछ सकता हूं ?' यह प्रश्न मैं बहुतों से पूछ चुका हूं पर जो उत्तर पाये उनसे तृप्ति नहीं होती है। समस्त दर्शन कहते हैं, अपने को जानो। मैं भी अपने को जानना चाहता हूं। यही मेरा प्रश्न है : 'मैं कौन हूं ?' इसका ही उत्तर चाहता हूं।'

मैंने कहा "अभी आपने प्रश्न पूछा ही नहीं है, तो उत्तर कैसे पाते। प्रश्न पूछना उतना आसान नहीं है।"

उस युवक ने एक क्षण हैरानी से मुझे देखा। प्रगट था कि मेरी बात का अर्थ उसे नहीं दिखा था। वह बोला, "यह आप क्या कहते हैं, मैंने प्रश्न ही नहीं पूछा है ?"

मैंने कहा . रात्रि में आ जावें। वह रात्रि आया भी। सोचा होगा मैं कोई उत्तर दूंगा। उत्तर मैं दिया भी, पर जो मैं उत्तर दिया वह उसने नहीं सोचा था।

वह आया। बैठते ही मैंने प्रकाश बुझवा दिया। बोला : "यह क्या कर रहे हैं ? क्या उत्तर आप अंधेरे में देते हैं ?"

मैंने कहा : 'उत्तर नहीं देता, केवल प्रश्न पूछना सिखाता हूं। आत्मिक जीवन और सत्य के संबंध में कोई उत्तर बाहर नहीं है। ज्ञान बाह्य तथ्य नहीं है : वह सूचना नहीं है, अतः उसे आप में डाला नहीं जा सकता है। जैसे कुयें से पानी निकालते हैं, ऐसे ही उसे भी भीतर से ही निकालना होता है। वह है नित्य, उसकी उपस्थिति है, केवल अपना घड़ा उस तक पहुंचाना है। इस प्रक्रिया में एक ही बात स्मरणीय है कि घड़ा खाली हो–घड़ा खाली हो तो भर कर लौट आता है और प्राप्ति हो जाती है।'

अंधेरे में थोड़ा-सा समय चुपचाप सरका। वह बोला: 'अब मैं क्या करूं ?' मैंने कहा : "घड़ा खाली कर लें, शान्त हो जावें और पूछें 'मैं कौन हूं ?' 'एक बार दो बार, तीन बार पूछें–समग्र शक्ति से पूछें : 'मैं कौन हूं ? 'प्रश्न पूरे व्यक्तित्व में गूंज उठे–और तब शान्त हो जावें और मौन–विचार शून्य प्रतीक्षा करें–प्रश्न और फिर खामोशी–शून्य प्रतीक्षा यही विधि है।"

वह थोड़ी देर बाद बोला : 'लेकिन मैं चुप नहीं हो पा रहा हूं। प्रश्न तो पूछ लिया पर शून्य प्रतीक्षा असंभव है और अब मैं देख पा रहा हूं कि मैंने वस्तुतः आज तक प्रश्न पूछा ही नहीं था।'

एक प्रवचन पढ़ रहा हूं। कोई साधु बोले हैं। क्रोध छोड़ने को, मोह छोड़ने को, वासनायें छोड़ने को कहा है। जैसे ये सब बातें छोड़ने की हों–किसी ने चाहा और छोड़ दिया–पढ़ सुनकर ऐसा ही प्रतीत होता है। इन उपदेशों को सुनकर ज्ञात होता है कि अज्ञान कितना घना है। मनुष्य के मन के सम्बन्ध मे हम कितना कम जानते हैं?

एक बच्चे से एक दिन मैंने कहा कि तुम अपनी बीमारी को छोड़ क्यों नही देते हो? वह बीमार बच्चा हसने लगा था और बोला था कि क्या बीमारी छोड़ना मेरे हाथ में है?

प्रत्येक व्यक्ति विकार और बीमारी को छोड़ना चाहता है पर विकार की जड़ों तक जाना आवश्यक है–वे जिस अचेतन गर्त से आते हैं वहां तक जाना आवश्यक है–केवल चेतन मन के संकल्प से उनसे मुक्ति नहीं पाई जा सकती है। एक कहानी फ्रायड ने कही कही है। एक ग्रामीण शहर की किसी होटल मे ठहरा था। रात्रि उसने अपने कमरे के प्रकाश को बुझाने की बहुत कोशिश की पर असफल ही रहा–उसने प्रकाश को फूक कर बुझाना चाहा, बहुत भांति फूंका पर प्रकाश था कि अकंपित जलता ही गया फिर उसने सुबह इसकी शिकायत की थी। शिकायत के उत्तर में उसे ज्ञात हुआ था कि वह प्रकाश दिये का नहीं था जो फूंकने से बुझ जाता–वह प्रकाश तो विद्युत का था।

और मैं कहता हूं कि मनुष्य के विकारों को भी फूंककर बुझाने की विधि गलत है। वे मिट्टी के दिये नहीं हैं, वे विद्युत के दिये हैं। उन्हें बुझाने की विधि अचेतन में छिपी हुई है। चेतन के सब संकल्प फूंकने की भांति व्यर्थ हैं, केवल अचेतन में योग के माध्यम से उतर कर ही उनकी जड़ें तोड़ी जा सकती हैं।

७१ :

टिक.. टिक.. टिक.. घड़ी फिर से चलनी शुरू हो गई है। वह अपने में तो चलती ही थी, मेरे लिये बंद हो गई थी या ठीक हो कि कहूं कि मैं ही वहां बंद हो गया था, जहां कि उसका चलना है।

एक दूसरे समय में चला गया था, आंखें बन्द किये बैठा था और भीतर देखता था, देखता रहा — देखता रहा — काल का एक और ही क्रम था और फिर काल क्रम ही टूट गया था।

समय के बाहर निकल जाना कैसा आनन्द है। चित्त पर चित्र बंद हो जाते हैं। उनका होना ही काल है, वह मिटे कि काल मिटा फिर शुद्ध वर्तमान ही रह जाता है। वर्तमान कहने को समय का अंग है, वस्तुतः वह काल क्रम के बाहर है, अतीत है। उसमें होना 'स्व' में होना है। उस जगत से अब लौटा हूं। सब कितना शान्त है। दूर किसी पक्षी का गीत चल रहा है, पड़ोस में कोई बच्चा रोता है और एक मुर्गा बोल रहा है।

ओह! जीना कितना आनन्द है। और अब मैं जानता हूं कि मृत्यु भी आनन्द है क्योंकि जीवन उसमें भी समाप्त नहीं होता है। वह जीवन की एक स्थिति है। जीवन उसके पूर्व भी है और जीवन उसके पश्चात् भी है।

७२.

ईश्वर क्या है ?

यह प्रश्न कितनों के मनों में नहीं है ? कल एक युवक पूछ रहे थे। और यह बात ऐसे पूछी जाती है जैसे कि ईश्वर कोई वस्तु है, खोजने वाले से अलग और भिन्न और उसे अन्य वस्तुओं की भांति पाया जा सकता है। ईश्वर को पाने की बात ही व्यर्थ है और उसे समझने की भी, क्योंकि वह मेरे आर पार है मैं उसमें हूं और ठीक से कहें तो 'मैं' है ही नहीं, केवल वही है

ईश्वर 'जो है' उसका नाम है। वह सत्ता के भीतर कुछ नहीं है : स्वयं सत्ता है। उसका अस्तित्व भी नही है : वरन् अस्तित्व ही उसमें है। वह 'होने का' अस्तित्व का, अनाम का नाम है।

इससे उसे खोजा नहीं जाता है क्योंकि मैं भी उसी में हूं। उसमें तो खोया जाता है और खोते ही उसका पाना है।

एक कथा है। एक मछली सागर का नाम सुनते-सुनते थक गई थी। एक दिन उसने मछलियों की रानी से पूछा मैं सदा से सागर का नाम सुनती आई हू पर यह सागर है क्या? और कहां है? उस रानी ने कहा : 'सागर में ही तुम्हारा जन्म है, जीवन है और जगत् है। सागर ही तुम्हारी सत्ता है। सागर ही तुममें है और तुम्हारे बाहर है। सागर से तुम बनी हो और सागर में ही तुम्हारा अंत है। सागर तुम्हें प्रतिक्षण घेरे हुये है।'

ईश्वर प्रत्येक को प्रतिक्षण घेरे हुये है, पर हम मूर्च्छित हैं, इससे उसके दर्शन नहीं हैं। मूर्च्छा जगत् है, संसार है, अमूर्च्छा ईश्वर है।

७३.

एक स्वामी आये थे। वर्षों से सन्यासी हैं। मैंने पूछा : "सन्यास क्यों लिया ?" बोले : 'शान्ति चाहता हूं।'

सोचता हूं कि क्या शान्ति भी चाही जा सकती है ? क्या 'चाहने' और 'शान्ति' में विरोध नहीं है ? उनसे यह कहा भी।

कुछ हैरान से हो गये थे। फिर बोले : "फिर क्या करें ?

मैं हंसने लगा। कहा : "क्या 'करने में भी चाह छुपी नहीं बैठी है ?"

प्रश्न कुछ करने का नहीं है शान्ति के लिये कुछ भी नहीं किया जा सकता है। यह चाह का अंग नहीं है। उसे चाहना व्यर्थ है। असल में अशान्ति को समझना आवश्यक है। अशान्ति क्या है ? यह जानना है। शास्त्रों से नहीं, स्वयं से। शास्त्रों को जानने से ही शान्ति की चाह पैदा होती है और तब 'क्या करने' का प्रश्न उठता है।

उन स्वामी ने कहा : "अशान्ति वासना के कारण है–चाह के कारण है। तृष्णा न हो जाये तो शान्ति है।"

मैंने कहा : 'यह उत्तर शास्त्र से है स्वयं से नहीं–अन्यथा शान्ति को चाहता हूं, ऐसा कहना संभव न होता। तृष्णा ही अशान्ति है–चाह ही अशान्ति है तो शान्ति को कैसे चाहा जा सकता है ? अशान्ति को जानें–स्वानुभव से उसके प्रति जागें–निर्दोष–निष्पक्ष मन से उसे समझें। यह समझ अशान्ति की जड़ों को सामने ला देगी। अशान्ति का मूल वासना है, यह दीखेगा। और यह दीखना ही अशान्ति का विसर्जन बन जाता है। अशान्ति का ज्ञान ही उसकी मृत्यु है। उसका जीवन अंधेरे में और अंधेपन में ही संभव है। ज्ञान

ही उसकी समाप्ति है। अशान्ति के विसर्जन पर जो बच रहता है वह शान्ति है। शान्ति अशान्ति के विपरीत नहीं चाही जाती है। वह उसकी विरोधी नहीं है। वह है उसका न हो जाना। इसलिये शान्ति को नहीं खोजना है, केवल अशान्ति को जानना है। सीखा हुआ शास्त्र ज्ञान, इस ज्ञान में बाधा बन जाता है क्योंकि बधे बंधाये उत्तर स्वानुभव के पूर्व ही उधार निष्कर्षो से चित्त को भर देते हैं। इन उधार निष्कर्षो से कोई परिवर्तन नही होता है। स्वानुभूति ही मार्ग है। प्रत्येक व्यक्ति को आत्मिक जीवन मे उधार ज्ञान के बोझ को उतार कर चलना होता है।

७४.

मनुष्य के साथ क्या हो गया है?

मैं सुबह उठता हूं : देखता हूं गिलहरियों को दौड़ते : देखता हूं सूरज की किरणों में फूलों को खिलते : देखता हूं संगीत से भर गई प्रकृति को। रात्रि सोता हूं : देखता हूं तारों के अरवे मौन को : देखता हूं सारी सृष्टि पर छा गई आनन्द निद्रा को। और फिर, अपने से पूछने लगता हूं कि मनुष्य को क्या हो गया है?

सब कुछ आनन्द से तरंगित है, केवल मनुष्य को छोड़कर। सब संगीत से आन्दोलित है केवल मनुष्य को छोड़कर। सब दिव्य शान्ति में विराजमान है, केवल मनुष्य को छोड़कर?

क्या मनुष्य इस सबका भागीदार नहीं है? क्या मनुष्य कुछ पराया है : अजनबी है?

यह परायापन अपने हाथों लाया गया है। यह टूट अपने हाथों पैदा की गई है। स्मरण आती है बाइबिल की एक पुरानी कथा। मनुष्य 'ज्ञान का फल' खाकर, आनन्द के राज्य से बहिष्कृत हो गया है। यह कथा कितनी सत्य है। ज्ञान ने, बुद्धि ने, मन ने मनुष्य को जीवन से तोड़ दिया है। वह सत्ता में होकर सत्ता के बाहर हो गया है।

ज्ञान को छोड़ते ही, मन से पीछे हटते ही, एक नये लोक का उदय होता है। उसमें हम प्रकृति से एक हो जाते हैं। कुछ अलग नहीं होता है, कुछ भिन्न नहीं होता है। सब एक शान्ति के संगीत में स्पंदित होने लगता है।

यह अनुभूति ही 'ईश्वर' है।

ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं है। ईश्वर की कोई अनुभूति नहीं होती है। वरन् एक अनुभूति का नाम ही ईश्वर है। 'उसका' कोई साक्षात

नहीं है : वरन् एक साक्षात का ही वह नाम है।

इस साक्षात में मनुष्य स्वस्थ हो जाता है। इस अनुभूति में वह अपने घर आ जाता है। इस प्रकाश में वह फूलों और पत्तियों के सहज स्फूर्त आनन्द का साझीदार हो जाता है। इसमें एक ओर से वह मिट जाता है और दूसरी ओर से सत्ता को पा लेता है। यह उसकी मृत्यु भी है और उसका जीवन भी है।

७९.

कोई पूछता था आत्मा को कैसे पाया जावे ? ब्रह्म उपलब्धि कैसे हो सकती है ?

आत्मा के पाने की बात ही मेरे देखे गलत है। वह प्राप्तव्य नहीं है। वह तो नित्य प्राप्त है। वह कोई वस्तु नही जिसे लाना है। वह कोई लक्ष्य नहीं जिसे साधना है। वह भविष्य में नहीं है कि उस तक पहुंचना है। वह है। 'है' का ही वह नाम है। वह वर्तमान है, नित्य वर्तमान। उसमें अतीत और भविष्य नही है। उसमें 'होना' नहीं है। उसे न खोना संभव है और न पाने की बात ही सार्थक है। वह शुद्ध नित्य अस्तित्व है।

फिर खोना किस स्तर पर हो गया है या खोने का आभास और पाने की प्यास कहां आ गई है ?

'मैं' को समझ लें तो जो आत्मा खोई नहीं जा सकती है उसका खोना समझ में आ सकता है। 'मैं' आत्मा नही है। न 'स्व' आत्मा है न पर आत्मा है। यह द्वैत वैचारिक है। यह द्वैत मन में है। मन आभास सत्ता है। वह कभी वर्तमान मे नहीं होता है। वह या तो अतीत है या भविष्य है। न अतीत की सत्ता है न भविष्य की। एक न हो गया है एक अभी हुआ नही है। एक स्मृति में है, एक कल्पना में है। सत्ता में दोनों नही है। इस असत्ता से 'मैंने' का जन्म होता है। 'मैं' विचार की उत्पत्ति है। काल भी विचार की उत्पत्ति है। विचार के कारण, 'मैं' के कारण आत्मा आवरण में है। वह है पर खोई मालूम होती है। फिर यही 'मैं' यही विचार-प्रवाह-इस तथाकथित आत्मा को खोजने चलता है। यह खोज असंभव है। खोज से 'मैं' और पुष्ट होता है। सशक्त होता है।

'मैं' के द्वारा आत्मा को खोजना स्वप्न के द्वारा जागृति को खोजने जैसा है। 'मैं' के द्वारा नहीं, 'मैं' के विसर्जन से उसका पाना है। स्वप्न जाते ही जागृति है : 'मैं' के जाते ही आत्मा है।

आत्मा शून्यता है क्योंकि पूर्णता है। उसमें 'स्व' 'पर' नहीं है। वह अद्वैत है। वह कालातीत है। विचार के, मन के, जातेही जाना जाता है कि उसे कभी खोया नहीं था।

इसलिये, उसे खोजना नहीं है। खोज छोड़नी है और खोजने वाले को छोड़ना है और खोज और खोजी के मिटते ही खोज पूरी हो जाती है। 'मैं' को खोकर उसे पा लिया जाता है।

साधुता क्या है?

यह प्रश्न अनेकों के मन में है। वस्त्र और बाह्य रूप से साधुता का संबंध होता तो यह प्रश्न उठता ही नहीं। निश्चित ही साधुता बाह्य तथ्य नहीं है, कुछ आंतरिक सत्य है। यह आंतरिक सत्य क्या है?

साधुता अपने में होना है। साधारणतः मनुष्य अपने से बाहर है। एक क्षण भी वह अपने में नहीं है। सबके साथ है पर अपने साथ नहीं है। यह स्व से अलगाव ही असाधुता है। स्व में लौटना—स्वरूप में प्रतिष्ठित होना—स्वस्थ होना साधुता है। आध्यात्मिक अस्वास्थ्य असाधुता है, स्वास्थ्य साधुता है।

मैं बाहर हूं तो सोया हुआ हूं। बाह्य, 'पर' [illegible] है। 'पर' [illegible] हुये हैं। 'पर' ही ध्यान में है। 'स्व' ध्यान के [illegible] है। [illegible] है। महावीर कहे हैं 'सत्ता अमुणी' जो सोता है, [illegible] है। इस 'पर' की परतंत्रता से 'स्व' की स्वतंत्रता में [illegible] होना है। यह साधुता पहचानी कैसे जाती है?

यह साधुता शान्ति में, आनन्द से, [illegible] जाती है।

एक साधु था : संत फ्रांसिस। वह [illegible] के साथ [illegible] पर था। वे सेंट मेरिनो जा रहे थे। [illegible] और वर्षा [illegible]। वे भीग गये और कीचड़ में लथ पथ हो [illegible] दिन भर की भूख और थकान ने [illegible] था। [illegible] दूर था और आधी रात के पूर्व [illegible] था। [illegible] ने कहा : 'लियो, वास्तविक [illegible]

जिला सकता है। वह वास्तविक साधु नहीं है।' थोड़ी देर सन्नाटा रहा और फिर फ्रांसिस ने कहा : 'लियो वास्तविक साधु वह भी नहीं है जो पशुओं और पौधों और पत्थरों की भी भाषा समझ ले। सारे जगत का ज्ञान भी जिसे उपलब्ध हो, वह भी वास्तविक साधु नहीं है।' फिर थोड़ी देर सन्नाटा रहा। वे दोनों आंधी पानी और अंधेरे में चलते रहे। सेंट मेरीनो गांव के दिये दिखाई पड़ने लगे थे। संत फ्रांसिस ने फिर कहा : 'और वह भी वास्तविक साधु नहीं है, जिसने अपना सब कुछ त्याग कर दिया है।' अब लियो से न रहा जा सका, उसने पूछा 'फिर वास्तविक साधु कौन है ?' संत फ्रांसिस ने कहा था : 'हम मेरीनो पहुंचने को हैं। सराय के बाहर द्वार को जाकर हम खटखटायेंगे। द्वारपाल पूछेगा : कौन हो ? और हम कहेंगे तुम्हारे ही दो बंधु–दो साधु, और यदि वह कहे, भिखारियो–भिखमंगो–मुफ्त-खोरो–यहां से भाग जाओ, यहां तुम्हारे लिये कोई स्थान नहीं है और द्वार बन्द कर ले। हम भूखे और थके और कीचड़ से भिड़े आधी रात में बाहर खड़े रहे और फिर द्वार खटखटायें। वह अबकी बार बाहर निकलकर लकड़ी से हम पर चोट करे और कहे बदमाशो हमें परेशान मत करो। और यदि हमारे भीतर कुछ भी न हो–वहां सब शान्त और शून्य बना रहे,और उस द्वारपाल में भी हमें प्रभु दीखता रहे–तो यही वास्तविक साधुता है।

निश्चय ही सब परिस्थितियों में अखंडित शान्ति और सरलता और समता को उपलब्ध कर लेना ही साधुता है।

एक युवक ने कल रात्रि पूछा था : 'मैं अपने मन से लड़ रहा हूं पर शान्ति उपलब्ध नहीं होती है। मैं क्या करूं, मन के साथ कि शान्ति पा सकूं ?'

मैंने कहा : 'अंधेरे के साथ कोई भी कुछ नहीं कर सकता है। वह है ही नहीं। वह केवल प्रकाश का न होना है। इसलिये उससे लड़ना अज्ञान है। ऐसा ही मन है। यह भी नहीं है, उसकी भी कोई स्व सत्ता नहीं है। वह आत्म बोध का अभाव है। ध्यान का अभाव है। इसलिये उसके साथ भी सीधे कुछ नहीं किया जा सकता है। अंधेरा हटाना हो तो प्रकाश लाना होता है और मन को हटाना हो तो ध्यान लाना होता है। मन को नियंत्रित नहीं करना है वरन् जानना है कि वह है ही नहीं। यह जानते ही उससे मुक्ति हो जाती है।'

उसने पूछा : 'यह जानना कैसे हो ?'

"यह जानना साक्षी चैतन्य से होता है। मन के साक्षी बनें। जो है उसके साक्षी बनें। कैसा होना चाहिये, इसकी चिन्ता छोड़ दें। जो है—जैसा है—उसके प्रति जागें—जागरूक हों। कोई निर्णय न लें, कोई नियंत्रण न करें—कोई संघर्ष में न पड़ें। बस, मौन होकर देखें। देखना ही, यह साक्षी होना ही मुक्ति बन जाता है।'

साक्षी बनते ही चेतना दृश्य को छोड़ दृष्टा पर स्थिर हो जाती है। इस स्थिति में अकंप प्रज्ञा की ज्योति उपलब्ध होती है और यही ज्योति मुक्ति है।

७८.

एक कोने में पड़ा हुआ बहुत दिन का दर्पण मिला है। धूल ने उ पूरा का पूरा छिपा रखा है। दिखता नहीं है कि वह अब भी दर्पण और प्रतिबिम्बों को पकड़ने में समर्थ होगा। धूल सब कुछ हो ग है और दर्पण न कुछ हो गया है। प्रगटतः धूल ही है और दर्पण नहीं है। पर क्या सच ही धूल में छिपकर दर्पण नष्ट हुआ है? दर्पण अब भी दर्पण है—उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है। धूल ऊपर है और दर्पण में नहीं है। धूल एक पर्दा बन गई है। पर पर्दा केवल आवेष्ठित करता है, नष्ट नहीं। और इस पर्दे को हटाते ही जो है वह पुनः प्रगट हो जाता है।

एक व्यक्ति से यह कहा हूं और कहा हू कि मनुष्य की चेतना भी इस दर्पण की भांति ही है। वासना की धूल है उस पर। विकारों का पर्दा है, उस पर। विचारों की पर्ते हैं, उस पर, पर चेतना के स्वरूप में इससे कुछ भी नहीं हुआ है।

वह वही है। वह सदा वही है। पर्दा हो या न हो, उसमें कोई परिवर्तन नही है। सब पर्दे ऊपर है इसलिये उन्हें खींच देना और अलग कर देना कठिन नही है। दर्पण पर से धूल को झाड़ने से ज्यादा कठिन चेतना पर से धूल को झाड़ देना नहीं है।

आत्मा को पाना आसान है क्योंकि बीच में धूल के एक झीने परदे के अतिरिक्त और कोई बाधा नहीं है। और पर्दे के हटते ही ज्ञात होता है कि आत्मा ही परमात्मा है।

७९:

एक चित्र देखकर लौटा हूं। पर्दे पर प्रक्षेपित विद्युत चित्र कितना मोह लेते हैं, यह देखकर आश्चर्य होता है। जहां कुछ भी नहीं है वहां सब कुछ हो जाता है। दर्शकों को देखता था, लगता था कि वे अपने को भूल गये हैं। वे अब नहीं हैं और केवल विद्युत चित्रों का प्रवाह ही सब कुछ है।

एक कोरा पर्दा सामने है और पार्श्व से चित्रों का प्रक्षेपण हो रहा है: जो देख रहे हैं उनकी दृष्टि सामने है और पीछे का किसी को कोई ध्यान नहीं है।

इस तरह लीला को जन्म मिलता है। मनुष्य के भीतर और मनुष्य के बाहर भी यही होता है।

एक प्रक्षेप यंत्र मनुष्य के मन की पार्श्व भूमि में है। मनोविज्ञान इस पार्श्व को अचेतन कहता है। इस अचेतन में संचित वृत्तियां—वासनायें—संस्कार चित्त के पर्दे पर प्रक्षेपित होते रहते हैं। यह चित्त-वृत्तियों का प्रवाह प्रतिक्षण बिना विराम बहता रहता है। चेतना दर्शक है—साक्षी है—वह इस वृत्ति-चित्रों के प्रवाह में अपने को भूल जाती है। यह विस्मरण अज्ञान है। यह अज्ञान मूल है संसार का, जन्म का, जन्म-जन्म के चक्र का। इस अज्ञान में रहना चित्त वृत्ति निरोध में होता है। चित्त जब वृत्ति शून्य होता है—पर्दे पर जब का प्रवाह रुकता तब है दर्शक को अपनी याद आती है और गृह लौटता है।

८०.

कल एक मंदिर के द्वार पर खड़ा था। धूप जल रही थी और वातावरण सुगन्धित था। फिर पूजा की घंटी बजने लगी और आरती का दीप मूर्ति के सामने घूमने लगा। कुछ भक्तजन इकट्ठे थे। यह सब आयोजन सुन्दर था। और एक सुखद तन्द्रा पैदा करता था लेकिन उस आयोजन से धर्म का कोई संबंध नहीं है।

किसी मंदिर, किसी मस्जिद, किसी गिरजे का धर्म से कोई संबंध नहीं है। किसी पूजा, किसी अर्चना का धर्म से कोई नाता नहीं है और सब मूर्तियां पत्थर हैं और सब प्रार्थनायें दिवालों से की गई बातचीत के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

लेकिन इन सबसे सुख मिलता मालूम होता है और यही खतरा है, कारण उसी के कारण प्रवंचना प्रारम्भ होती और प्रगाढ़ होती है। उस सुख के भ्रम में ही सत्य होने का आभास पैदा होता है। सुख मिलता है मूर्च्छा से--अपने को भूल जाने और स्व की वास्तविकता से पलायन करने से। मादक द्रव्यों का सुख भी ऐसे ही पलायन से मिलता है। धर्म के नाम पर मूर्च्छा के सब प्रयोग भी मादक द्रव्यों जैसा ही मिथ्या सुख लाते हैं। सुख धर्म नहीं है, क्योंकि वह दुख का अंत नहीं, केवल विस्मृति है।

फिर धर्म क्या है?

धर्म स्व से पलायन नहीं, स्व के प्रति जागरण है। इस जागरण का किसी बाह्य आयोजन से कोई वास्ता नहीं है। यह तो भीतर चलने और चैतन्य को उपलब्ध करने से संबंधित है।

मैं जागूं और साक्षी बनूं--जो है उसके प्रति चेतन बनूं--बस धर्म इतने से ही संबंधित है।

धर्म अमूर्च्छा है।

और अमूर्च्छा आनन्द है।

८९.

एक कहानी है। एक अविवाहित युवती को पुत्र उत्पन्न हो गया था। उसके प्रियजन घबड़ा गये थे। उन्होंने उससे गर्भ का कारण पूछा। वह बोली कि गांव के बाहर ठहरे हुये साधु ने उसका शील भंग किया है। उसके क्रोधित प्रियजनों ने साधु को घेरकर बहुत बुरा भला कहा। उस साधु ने सब शान्ति से सुना और कहा : "ऐसा है क्या ?" वह केवल इतना ही बोला था और बच्चे को पालने का भार उसने अपने ऊपर ले लिया था। पर घर लौटकर उस लड़की को पश्चाताप हुआ और उसने यथार्थ बात कह दी। उसने बता दिया कि उसने साधु को तो उसके पूर्व कभी देखा ही नहीं था, लड़के के असली पिता को बचाने के लिये ही उसने झूठी बात कह दी थी। उसके परिवार के लोग बहुत दुखी हुये। उन्होंने जाकर साधु से क्षमा मांगी। साधु ने सारी बातें शान्ति से सुनी और कहा ."ऐसा है क्या ?" (Is it so?)

जीवन में शान्ति आ जाये तो यह सारा जगत् और जीवन एक अभिनय से ज्यादा कुछ भी नहीं रह जाता है। मैं केवल एक अभिनेता हो जाता हूं : बाहर कहानी चलती जाती है और भीतर शून्य घिरा रहता है। इस स्थिति को पाकर ही संसार की दासता से मुक्ति होती है। मैं दास हूं क्योंकि जो भी बाहर से आता है, मैं उससे उद्विग्न होता हूं। कोई भी बाहर से मेरे भीतर को बदल सकता है। मैं इस भांति परतंत्र हूं। बाहर से मुक्ति हो जावे—बाहर कुछ भी हो पर मैं भीतर वही रह सकूं जो कि हूं तो स्व का और स्वतंत्रता का प्रारम्भ होता है।

यह मुक्ति, शून्य उपलब्धि से शुरू होती है। शून्य होना है। शून्य अनुभव करना है। उठते-बठते चलते सोते जानना है कि मैं शून्य हूं और इसका स्मरण रखना है। शून्य को स्मरण रखते-रखते शून्य होना हो जाता है। श्वांस-श्वांस में शून्य भर जाता है। भीतर शून्य आता है, [illegible] सरलता आ जाती है। शून्यता ही साधुता.

८२.

मैं आंख बंद किये बैठा था। आंखों से देखते-देखते मनुष्य आंखें बन्द करके देखना ही भूलता जा रहा है। जो आंख से दीखता है वह उसके समक्ष कुछ भी नहीं है, जो आंख बन्द करके दीख आता है। आंख का छोटा-सा पर्दा दो दुनियाओं को अलग करता और जोड़ता है।

मैं आंख बन्द किये बैठा था कि एक व्यक्ति आये हैं। पूछ रहे हैं कि मैं क्या कर रहा था? और जब मैं कहता हूं कि कुछ देख रहा था तो वे हैरान से हैं। शायद, इसलिये कि सोचते होंगे कि आंख बन्द करके देखना भी क्या देखना कहा जा सकता है?

आंख खोलता हूं तो सीमा में आ जाता हूं: आंख मोड़ता हूं तो असीम के द्वार खुल जाते हैं। इस ओर दृश्य दीखते हैं: उस ओर दृष्टा दीख आता है।

एक फकीर स्त्री थी: राबिया। एक सुन्दर प्रभात में किसी ने उससे कहा था: 'राबिया, भीतर झोंपड़े में क्या कर रही हो यहां आओ बाहर, देखो प्रभु ने कैसे मनोरम प्रभात को जन्म दिया है।' राबिया ने भीतर से ही कहा था: 'तुम बाहर जिस प्रभात को देख रहे हो, मैं भीतर उसके ही बनाने वाले को देख रही हूं: मित्र, तुम ही भीतर आ जाओ और जो यहां है उसके सौन्दर्य के आगे बाहर के किसी सौन्दर्य का कोई अर्थ नहीं है।'

पर कितने हैं, जो आंख बन्द करके भी बाहर ही नहीं बने रहेंगे? अकेले आंख बन्द करने से ही आंख बन्द नहीं होती है। आंख बन्द है पर चित्र बाहर के ही बहे जाते हैं। पलक बन्द है पर दृश्य बाहर के ही उतरे जा रहे हैं। यह आंख का बन्द होना नहीं है। आंख के बन्द

होने का अर्थ है : शून्यता । स्वप्नों से, विचारों से मुक्ति । विचार और दृश्य के विलीन होने से आत्म बन्द होता है और फिर जो प्रगट होता है वह शाश्वत चैतन्य है : वही है सत्, वही है चित्त, वही है आनन्द । इन आंखों का सब खेल है : आंख बदलो और सब बदल जाता है ।

८३.

एक साल हुई तब कुछ बीज बोये थे। अब उनमें फूल आ गये हैं। कितना चाहा कि फूल सीधे आ जावें पर फूल सीधे नहीं आते हैं। फूल लाना हो तो बीज बोने पड़ते है, पौधा संभालना पड़ता है और तब अंत में प्रतीक्षित का दर्शन होता है।

यह प्रक्रिया फूलों के सम्बन्ध में ही नहीं, जीवन के संबंध में भी सत्य है।

अहिंसा, अपरिग्रह, अचौर्य, सत्य, ब्रह्मचर्य—ये सब जीवन साधना के फूल हैं। कोई इन्हें सीधे नहीं ला सकता है। इन्हें लाना है तो आत्म-ज्ञान के बीज बोने पड़ते हैं। उसके आते ही ये सब अपने आप चले आते हैं।

आत्म ज्ञान मूल है, शेष सब उसका परिणाम है।

जीवन के बाह्य आचार का कुरूप होना, आंतरिक सड़न का प्रतीक होता है और उसका सौन्दर्य, आंतरिक जीवन और संगीत की प्रतिध्वनि होती है।

इससे लक्षणों को बदलने और परिवर्तन करने से कुछ भी नहीं हो सकता है। मूलतः जहां विकार की जड़ें हैं वहीं बदलाहट करनी है।

आत्म अज्ञान विकार की जड़ है। 'मैं कौन हूं' यह जानना है। यह जानते ही अभय और अद्वैत की उपलब्धि होती है। अद्वैत बोध-यह बोध कि जो मैं हूं वही दूसरा भी है-समस्त हिंसा को जड़ से दग्ध कर देता है। और परिणाम में आती है अहिंसा। पर को पर जानना हिंसा है। पर में स्व के दर्शन अहिंसा है। और अहिंसा धर्म की आत्मा है।

रात्रि पानी पड़ा था और मैं भीतर आ गया था। खिड़कियां बन्द थीं और बड़ी घुटन मालूम होने लगी थी। फिर खिड़कियां खोलीं और हवा के नये-नहाये झोंकों से ताजगी बही-और फिर मैं कब सो गया कुछ पता नहीं है।

सुबह एक व्यक्ति आये थे। उन्हें देखकर रात की घुटन याद आ गई थी। लगा जैसे उनके मन की सारी खिड़कियां-सारे द्वार बन्द हैं। एक भी झरोखा उन्होंने अपने भीतर खुला नहीं छोड़ा है जिससे बाहर की ताजी हवायें-ताजी रोशनी भीतर पहुंच सकें। सब बन्द दिखा। मैं उनसे बातें किया और जानता रहा कि मैं दिवारों से बातें कर रहा हूं। अधिक लोग ऐसे ही बंद हैं और जीवन की ताजगी और सौन्दर्य और नयेपन से वंचित हैं।

मनुष्य अपने ही हाथों अपने को एक कारागार बना लेता है। इस कैदमें घुटन और कुन्ठा मालूम होती है पर उसे मूल कारण का-ऊब और घबराहट के मूल श्रोत का पता नहीं चलता है। समस्त जीवन ऐसे ही बीत जाता है। जो मुक्त गगन में उड़ने का आह्लाद ले सकता था, वह एक तोते के पींजरे में बन्द सांसें तोड़ देता है।

चित्त की दीवारें तोड़ देने पर खुला आकाश उपलब्ध हो जाता है और खुला आकाश ही जीवन है। यह मुक्ति प्रत्येक पा सकता है और यह मुक्ति प्रत्येक को पा लेनी है।

यह मैं रोज कह रहा हूं पर शायद मेरी बात सब तक पहुंचती नहीं है। उनकी दीवारें मजबूत हैं पर दीवारें कितनी भी मजबूत क्यों न हों, वे मूलतः कमजोर हैं, क्योंकि दुखद हैं। यही आशा है। उनके विरोध में यही आशा की किरण है कि वे दुखद हैं और जो दुखद है वह ज्यादा देर तक टिक नहीं सकता है। केवल आनन्द ही नित्य हो सकता है।

८५.

धूप में मंदिरों के कलश चमक रहे है । आकाश खुला है और राह पर लोगों की भीड़ बढ़ती जाती है । मैं राह चलते लोगों को देखता हूं पर न मालूम क्यों ऐसा नहीं लगता है कि वे जीवित हैं । जीवन का, अस्तित्व का बोध न हो तो किसी को जीवित कैसे कहा जा सकता है ? जीवन आता है और कब व्यय हो जाता है यह जैसे ज्ञात ही नहीं हो पाता है । साधारणतः जब मृत्यु की घड़ियां आती हैं तब जीवन का बोध होता है। एक कहानी पढ़ी थी। एक व्यक्ति था बिल्कुल भुलक्कड़। वह भूल ही गया था कि जीवित है, फिर एक दिन सुबह वह उठा और उसने पाया कि वह मर गया है, तब उसे ज्ञात हुआ कि वह जीवित भी था । यह कहानी बहुत सत्य है ।

मैं इस कहानी का स्मरण कर रहा हूं, बहुत हंसी आती है कि मर कर किसी ने पाया कि वह जीवित था—पर फिर हंसी धीरे-धीरे उदासी में बदल जाती है। यह कैसी स्थिति है—यह कैसी दयनीय स्थिति है ?

मैं यह सोच ही रहा हूं कि कुछ लोग आ गये हैं । उन्हें देखता हूं । उनकी बातें सुनता हूं । उनकी आंखों में झांकता हूं । जीवन उनमें कहीं भी नहीं है । वे तो जैसे छायाओं की तरह है। सारा जगत छायाओं से भर गया है । अपने ही हाथों अधिक लोग प्रेत लोक में रह रहे हैं । और इस छायाओं के भीतर जीवित आग है—जीवन है, लेकिन उन्हें इसका पता ही नहीं है । इस छाया जीवन के भीतर वास्तविक जीवन है : इस प्रेत जीवन के पार सत्य जीवन भी है । और जिसे अभी और यहीं पाया जा सकता है ।

और, इसे पाने की शर्त कितनी छोटी है ?
और, इसे पाने का उपाय कितना सरल है ?
कल मैंने कहा है : **दृष्टि को भीतर से चलना है**

८६.

मैं उसे देखता हूं । उसे पहले से जानता हूं । जीवन सत्य को जानने की उसकी प्यास तीव्र है । वह किसी भी मूल्य पर सत्य को अनुभव करना चाहता है । उसमें तीव्र प्रतिभा है और सतही आस्थायें उसे तृप्त नहीं करतीं हैं । संस्कार, परंपरा और रूढ़ियां उसे कुछ भी नहीं दे पा रहीं हैं । वह संदेहों और शंकाओं से घिर गया है । उसके सारे मानसिक सहारे और धारणायें खंडित हो गई हैं और वह एक घने नकार में डूब गया है ।

मैं चुप हूं । वह दुबारा बोला है : 'ईश्वर पर से मेरी श्रद्धा हट गई है । कोई ईश्वर नहीं है । मैं अधार्मिक हो गया हूं ।'

मैं उससे कहता हूं कि यह मत कहो । नास्तिक होना अधार्मिक होना नहीं है । वास्तविक आस्तिकता पाने को नकार में गुजरना ही होता है । वह अधार्मिक होने का नहीं, वस्तुतः धार्मिक होने का प्रारम्भ है । संस्कारों से, शिक्षण से, विचारों से मिली आस्तिकता कोई आस्तिकता नहीं है । जो उसमें तृप्त है वह भ्रान्ति में है । वह विपरीत विचारों में पलता तो उसका मन विपरीत निर्मित हो सकता था और फिर वह उससे ही तृप्त हो जाता । मन पर पड़े संस्कार परिधि की, सतह की घटना है । वह मृत पर्त है । वह उधार और बासी स्थिति है । कोई भी सचमुच आत्मिक जीवन के लिये प्यासा व्यक्ति उस काल्पनिक जल से अपनी प्यास नहीं बुझा सकता है । और इस अर्थ में वह व्यक्ति धन्य भागी है क्योंकि वास्तविक जल को पाने की खोज इसी बे-बुझी प्यास से प्रारम्भ होती है । ईश्वर को धन्यवाद दो कि तुम ईश्वर की धारणा से सहमत नहीं हो, क्योंकि यह असहमति ईश्वर के सत्य तक तुम्हें ले जा सकती है ।

मैं उस युवक के चेहरे पर एक प्रकाश फैलते देखता हूँ । एक शान्ति और एक आश्वासन उसकी आँखों में आ गया है। जाते समय मैंने उससे कहा है : 'इतना स्मरण रखना कि नास्तिकता धार्मिक जीवन की शुरुआत है । वह अंत नहीं है । वह पृष्ठ भूमि है, पर उस पर ही रुक नहीं जाना है । वह रात्रि है, उसमें ही डूब नहीं जाना है । उसके बाद ही, उससे ही सुबह का जन्म होता है ।

८७.

कल रात्रि नगर से दूर एक अमराई में बैठे थे। थोड़ी सी बदलियां थीं और उनके बीच चांद निकलता छिपता रहा था। प्रकाश और छाया की इस लीला में कुछ लोग देर तक मौन मेरे पास थे। कभी कभी बोलना कितना कठिन हो जाता है। वातावरण में जब एक संगीत घेरे होता है तब डर लगता है कि कहीं बोलने से वह टूट न जाय। ऐसा ही कल हुआ। बहुत रात गये घर लौटे। राह में कोई कह रहा था कि 'जीवन में मौन का अनुभव पहली बार हुआ है। यह सुना था कि मौन अद्भुत आनन्द है पर जाना इसे आज है। पर आज तो यह अनायास हुआ है फिर दुबारा यह कैसे होगा ?'

मैंने कहा : 'जो अनायास हुआ है, वह अनायास ही होता है। प्रयास से वह नहीं आता है। प्रयास स्वयं अशान्ति है। प्रयास का अर्थ है कि जो है, उससे कुछ भिन्न चाहा जा रहा है। यह स्थिति तनाव की है। तनाव से तनाव ही पैदा होता है, अशान्ति में किया गया कुछ भी अशान्ति ही लाता है। अशान्ति शांति में नहीं बदलती है। शान्ति चेतना कि एक भिन्न स्थिति है। जब अशान्ति नहीं होती है, तब उसका होना होता है। कुछ न करें, कोई प्रयास न करें सब करना छोड़ दें और केवल देखते रह जायें और फिर पाया जाता है कि एक नयी चेतना, एक नया प्रकाश--आहिस्ता--आहिस्ता उतरता चला आ रहा है। इस नये लोक में जो पाया जाता है वही वस्तुतः है। जो है, उसका उद्घाटन आनन्द है, उसका उद्घाटन मुक्ति है। यह विराट हमारे क्षुद्र प्रयासों से नहीं--हमारे से से नहीं, वरन् जब प्रयास नहीं होते, जब मैं नहीं होता, तब आता है।'

संसार में जो भी पाया जाता है, वह क्रिया से, कर्म से पाया जाता

है । प्रयास वहां साधन है । मैं वहां केन्द्र है । प्रत्येक प्राप्ति इसलिये 'मैं' को और मजबूत कर जाती है । वस्तुतः पाने में मैं को मजबूत करने और फैलाने का ही सुख है । पर यह मैं कभी पूरा नहीं भरता है । यह स्वभाव से दुष्पूर है, इसलिये सुख प्रतीत ही होता है कभी उसे पाया नहीं जाता है । इससे जिन्होंने जाना, उन्होंने कहा कि संसार में दुख है । संसार में हम जो करते हैं, वही हम मुक्ति के लिये भी करते हैं । उसे भी पाने में लग जाते हैं और यहीं भूल हो जाती है । उसे पाना नहीं है, वरन् अपने को खोना है । अपने को खोते ही, उसे पा लिया जाता है ।

कल रात्रि देर तक नदी तट पर था । नदी की धार चांदी के फीते की भांति दूर तक चमकती चली गई है । एक मछुआ डोंगी को खेता हुआ आया था और देर से बोलते हुये जल पक्षी उसकी आवाज से चुप हो गये थे ।

एक मित्र साथ थे । उन्होंने एक भजन गाया था और फिर बात ईश्वर पर चली गई थी । गीत में भी ईश्वर की खोज की बात थी । जिन्होंने इसे गाया था, उनके जीवन के अनेक वर्ष ईश्वर की तलाश में ही गये हैं । मेरा परिचय उनसे कल ही हुआ था । विज्ञान के स्नातक हैं और फिर किसी दिन ईश्वर की धुन ने उन्हें पकड़ लिया था । तबसे अनेक वर्ष इसी धुन में गये हैं, पर कुछ उपलब्ध नहीं हुआ है ।

मैं भजन को सुनकर चुप था । उनकी आवाज़ मधुर थी और मन को छूती थी । फिर भजन के पीछे हृदय था और उस कारण गीत जीवित हो उठा था । मेरे मन में उसकी प्रतिध्वनि गूंज रही थी पर उन्होंने इस मौन को तोड़कर अनायास पूछा था कि यह ईश्वर की तलाश कहीं भ्रम ही तो नहीं है? पहले मैं आशा से भरा था, पर फिर धीरे-धीरे निराश होता गया हूं?

मैं फिर भी थोड़ी देर चुप रहा और बाद में कहा : 'ईश्वर की तलाश भ्रम ही है, क्योंकि ईश्वर को खोजने का प्रश्न ही नहीं उठता है । वह सदा ही उपस्थित है । पर हमारे पास उसे देख सकें ऐसी आंखें नहीं हैं इसलिये असली खोज सम्यक् दृष्टि को पाने की ... एक अंधा आदमी था । वह सूरज को खोजना चाहता था । ... खोज गलत थी । सूरज तो है ही, आंखें खोजनी हैं । आंख ... मिल जाता है । साधारणतः ईश्वर का तलाशी ...

खोजने में लग जाता है। वह अपनी आंखों का विचार ही नहीं करता है। यह आधार भूत भूल परिणाम में निराशा लाती है। मेरा देखना विपरीत है। मैं देखता हूं कि असली प्रश्न मेरा है, और मेरे परिवर्तन का है। मैं जैसा हूं, मेरी आंखें जैसी हैं, वही मेरे ज्ञान की और दर्शन की सीमा है। मैं बदलूं, मेरी आंखें बदलें, मेरी चेतना बदले, तो जो अभी अदृश्य है, वह दृश्य हो जाता है। और फिर जो अभी हम देख रहे हैं, उसकी ही गहराई में ईश्वर उपलब्ध हो जाता है। संसार में ही प्रभु उपलब्ध हो जाता है। इसीलिये मैं कहता हूं, धर्म ईश्वर को पाने का नहीं, वरन् नई दृष्टि, नई चेतना पाने का विज्ञान है। प्रभु तो है ही, हम उसमें ही खड़े हैं, उसमें ही जी रहे हैं-पर आंखें नहीं हैं, इसलिये सूरज दिखाई नहीं देता है। सूरज को नहीं आंखों को खोजना है।

८९.

गौतम बुद्ध ने चार आर्य सत्य कहे हैं। दुख, दुख का कारण, दुख निरोध और दुख निरोध गामी मार्ग। जीवन में दुख है: दुख का कारण है। इस दुख का निरोध हो सकता है। और दुख निरोध का मार्ग है।

मैं पांचवा आर्य सत्य भी देखता हूं। और यह पांचवा इन चारों के पूर्व है। वह है इसलिये ये चारों हैं। वह न हो तो ये चारों भी नहीं रह सकते हैं।

यह पांचवां या प्रथम आर्य सत्य क्या है?

यह सत्य है दुख के प्रति मूर्च्छा। दुख है पर हम उसके प्रति मूर्च्छित हैं। इस मूर्च्छा से ही वह हमें दिखता नहीं है। इस मूर्च्छा में ही हम उसमें होते हैं, पर वह हमें संतप्त नहीं करता है। इस [illegible] में – तन्द्रा में जीवन बीतता है और जो दुख [illegible] जाता है।

इस मूर्च्छा में,अचेतना में जो है वह आंख के [illegible] और जो नहीं है उसके स्वप्न चलते रहते हैं। वर्तमान [illegible] है और भविष्य में दृष्टि बनी रहती है। [illegible] नशे में वर्तमान का दुख डूबा रहता है। [illegible] नहीं है और उसके पार उठने का प्रश्न [illegible]

एक कैदी को यदि कारागृह की [illegible] ही न हों, तो उसमें मुक्ति की [illegible] कहां है?

इससे इस सत्य को कि हम [illegible] —यह सत्य हमारी चेतना में [illegible] शेष चार बाद मे आते हैं। [illegible]

९०.

मैं उंगलियों पर गिनी जा सकें इतनी बातें कहता हूं :

एक-मन को जानना है, जो इतना निकट है फिर भी इतना अज्ञात है।

दो-मन को बदलना है, जो इतना हठी है पर परिवर्तित होने को इतना आतुर है।

तीन-मन को मुक्त करना है, जो पूरा-का-पूरा बंधन में है किन्तु अभी और यहीं मुक्त हो सकता है।

ये तीन बातें भी कहने की हैं करना तो केवल एक ही काम है। वह है मन को जानना। शेष दो उस एक के होने पर अपने आप हो जाती हैं। ज्ञान ही बदलाहट है, ज्ञान ही मुक्ति है।

यह कल कहता था कि किसी ने पूछा : 'यह जानना कैसे हो?'

यह जानना जागने से होता है। शरीर और मन दोनों की हमारी क्रियायें मूर्च्छित हैं। प्रत्येक क्रिया के पीछे जागना आवश्यक है। मैं चल रहा हूं : मैं बैठा हूं या मैं लेटा हुआ हूं : इसके प्रति सम्यक् स्मरण चाहिये। मैं बैठना चाहता हूं इस मनोभाव या इच्छा के प्रति भी जागना है। चित्त पर क्रोध है या क्रोध नहीं है, इस स्थिति को भी देखना है। विचार चल रहे हैं या नहीं चल रहे हैं : उनके प्रति भी साक्षी होना है।

यह जागरण दमन से या संघर्ष से नहीं हो सकता है। कोई निर्णय नहीं लेना है। सद् असद् के बीच कोई चुनाव नहीं करना है। केवल जागना है : बस जागना है और जागते ही मन का रहस्य खुल जाता है। मन जान लिया जाता है और केवल जानने से परिवर्तन हो जाता है और परिपूर्ण जानने में मुक्ति हो जाती है।

इससे मैं कहता हूं कि मन की बीमारी से मुक्ति आसान है। क्योंकि वहां निदान ही उपचार भी है।

दोपहर आने को है। [illegible] आईं और अब [illegible] है।

सूरज छिप गया है और [illegible] में [illegible] है।

एक फकीर द्वार पर आया है। उनके हाथ में [illegible] है। परिचय नहीं है पर [illegible] है कि [illegible] है। [illegible] फकीर नहीं, [illegible] है। [illegible] राम... राम। मैंने कहा [illegible] महाराज, यह [illegible] है। [illegible] मैंने कहा : [illegible] है।

यह मुझे बहुत [illegible] है कि [illegible] जो सीखने से [illegible] है वह ज्ञान नहीं है। ज्ञान बुद्धि की उपलब्धि नहीं है। बुद्धि स्मृति है और स्मृति से नहीं, स्मृति के हट जाने से ज्ञान आता है। जो सीखा जाता है वह [illegible] है। उस [illegible] का नाम पांडित्य है।

ज्ञान के मार्ग में उससे बड़ी और कोई बाधा नहीं है।

पांडित्य मृत तथ्यों का संग्रह है ये तथ्य मन उधार होते हैं। अनुभूति में इनकी कोई जड़ नहीं होती है। इन मृत तथ्यों से घिरा चित्त, उसके दर्शन नहीं कर पाता है, 'जो कि है।' ये तथ्य पर्दा बन जाते हैं। इस पर्दे के हटाने पर अज्ञात का उद्घाटन होता है। यह दर्शन ही ज्ञान है। सीखना नहीं, दर्शन ज्ञान है। ग्रंथ नहीं, तथ्य नहीं, सत्य दृष्टि उस उपलब्धि का मार्ग है।

९२.

संध्या उतर आई है और सांध्य कुसुमों की गंध उड़ने लगी है।

एक कोयल दोपहर भर कूकती रही है और अब चुप हो गई है। वह गाती थी, तो इतनी ख्याल में नहीं थी, अब मौन क्या हुई है कि ख्याल में हो आई है। मैं उसके फिर से स्वर उठाने की प्रतीक्षा कर रहा हूं कि इसी बीच एक साधु का आगमन हुआ है। बाल ब्रह्मचारी हैं: सूखी कृश, अस्वस्थ्य सी देह है। चेहरा बुझा-बुझा और निस्तेज। आंखों का पानी उड़ गया है। देख उन्हें बहुत दया आई है। शरीर पर अनाचार किया है। यह मैं उनसे कहा हूं। वह तो कुछ चौंक-से गये हैं। इसे ही त्याग मानते हैं। अस्वास्थ्य जैसे आध्यात्मिक है: कुरूपता और विकृति जैसे योग है। असौंदर्य की साधना ही साधना है। काउंट कैसरलिंग ने यही लिखा है: 'स्वास्थ्य अध्यात्म विरोधी आदर्श है।' उनकी इस पंक्ति में इसी अज्ञान की गूंज है। यह विचार प्रतिक्रिया जन्य है। कुछ हैं जो शरीर के पीछे हैं, शरीर ही उन्हें सब कुछ है। यह एक अति है फिर इसकी प्रतिक्रिया से दूसरी अति पैदा होती है। पर दोनों ही अतियां शरीरवादी हैं। शरीर को न तो उछालते फिरना है, न उसे तोड़ते फिरना है। वह तो कुल जमा आवास है। उसका स्वस्थ्य और स्वच्छ होना आवश्यक है। आध्यात्मिक जीवन स्वास्थ्य विरोधी नहीं है। वह तो परिपूर्ण स्वास्थ्य है। वह तो एक लय युक्त, संगीत पूर्ण सौन्दर्य की स्थिति का ही पर्यायवाची है।

शरीर दमन अध्यात्म नहीं है: वह तो केवल भोगवादी वृत्तियों का शीर्षासन है। वह तो भोग की प्रतिक्रिया मात्र है। उसमें ज्ञान नहीं, अज्ञान और आत्म हिंसा है। वह वृत्ति हिंसक है। उससे कोई कहीं

नहीं पहुंचता है। शरीर को दमन नहीं करना है। वह तो बेचारा केवल उपकरण है और अनुगामी है। वह तो मैं जैसा हूं, वैसा ही हो जाता है। मैं वासना में हूं तो वह वहां साथ देता है। मैं साधना में हो जाऊं तो वह वहां साथी हो जाता है। वह मेरे पीछे है : परिवर्तन उसमें नहीं, वह जिसके पीछे है, उसमें करना है।

१३.

मैं शान्ति, आनन्द और मुक्ति की बातें कर रहा हूं । जं
यही केन्द्रीय खोज है । वह पूरी न हो तो जीवन व्यर्थ हो :
काल यह कह रहा था कि एक युवक ने पूछा : कि क्या सभी :
मिल सकता है और यदि मिल सकता है तो फिर मिल य
जाता है ।

एक कहानी मैंने उससे कही । गौतम बुद्ध के पास एक प्र
व्यक्ति ने भी यही पूछा था । उन्होंने कहा था कि जाओ और
पूछ कर आओ कि जीवन में कौन क्या चाहता है ? यह व्यवि
घर गया और संध्या को थका-मादा एक फेहरिस्त लेकर
कोई यश चाहता था, कोई पद चाहता था, कोई धन... ई
समृद्धि, पर मुक्ति का आकांक्षी तो कोई भी नहीं था। बुद्ध
कि अब बोलो : अब पूछो : मोक्ष तो प्रत्येक को मिल सकत
यह तो है ही, पर तुम एक बार उस ओर देखो भी तो ? हम
और पीठ किये खड़े हैं ।

यही उत्तर मेरा भी है । मोक्ष प्रत्येक को मिल सकता है
कि प्रत्येक बीज पौधा हो सकता है । वह हमारी संभावना है
संभावना को वास्तविकता में बदलना है । इतना मैं जानता
यह बीज को वृक्ष बनाने का काम कठिन नहीं है । यह बहुत ही
है । बीज मिटने को राजी हो जाये, तो अंकुर उसी क्षण आ
है । मैं मिटने को राजी हो जाऊं, तो मुक्ति उसी क्षण आ जाती
'मैं' बंधन है, वह गया कि मोक्ष है ।

'मैं' के साथ संसार में हूं, 'मैं' नहीं कि मैं ही मोक्ष हूं ।

९४.

एक वर्ष हुआ। बीती बरसात में गुल्तेवरी के फूल बोये थे। वर्षा गई तो साथ ही फूल भी चले गये थे, फिर उनके सूखे पौधों को अलग कर दिया था। इस बार देखता हूं कि वर्षा आई है तो गुल्तेवरी के अंकुर फिर अपने आप ही फूट रहे हैं। जगह-जगह भूमि को तोड़कर उनने झांकना शुरू किया है। एक वर्ष तक विगत वर्ष छूटे बीजों ने प्रतीक्षा की है और अब उनको पुनः जन्म पाते देखना आनन्दपूर्ण है। भूमि के अंधेरे में सर्दी और गर्मी की वे प्रतीक्षा करते रहे हैं, और अब कहीं जाकर उन्हें पुनः प्रकाश पाने का अवसर मिला है। इस उपलब्धि पर उन नवजात पौधों में मगन्न संगीत छाया हुआ है। उसे मैं अनुभव करता हूं।

सदियों पूर्व किसी अमृत कंठ ने गाया था : 'तमसो मा ज्योतिर्गमय।' अंधेरे से प्रकाश पाने की आकांक्षा किसमें नहीं है? क्या मनुष्य में क्या प्रत्येक प्राणी में, ऐसे बीज नहीं छिपे हैं, जो प्रकाश पाना चाहते हैं? क्या वहां भी जन्म जन्मों से अवसर की प्रतीक्षा और प्रार्थना नहीं है?

प्रत्येक के भीतर छिपे हैं ये बीज और इन बीजों से ही पूर्ण होने की प्यास उठती है। प्रत्येक के भीतर छिपी हैं, वे लपटें और वे लपटें सूरज को पाना चाहती हैं। इन बीजों को पौधों में बदले बिना कोई तृप्त नहीं होता है। पूर्ण हुये बिना कोई मार्ग नहीं है। पूर्ण होना ही होता है : क्योंकि मूलतः बीज प्रत्येक पूर्ण ही है।

९५.

नयी सुबह। नया सूरज। नयी धूप। नये फूल। सोकर उठा हूं। सब नया नया है। जगत में कुछ भी पुराना नहीं है।

कई सौ वर्ष पहले यूनान में हेराक्लतु ने कहा था : 'एक ही नदी में दो बार उतरना असंभव है।'

सब नया है पर मनुष्य पुराना पड़ जाता है। मनुष्य नये में जीता ही नहीं, इसलिये पुराना पड़ जाता है। मनुष्य जीता है, स्मृति में, अतीत में, मृत में। यह जीना ही है, जीवन नहीं है। यह अर्ध मृत्यु है। और इस अर्ध मृत्यु को ही हम जीवन मानकर समाप्त हो जाते हैं। जीवन न अतीत में है, न भविष्य में है। जीवन तो नित्य वर्तमान में है।

यह जीवन योग से मिलता है, क्योंकि योग चिर नवीन में जगा देता है। योग चिर वर्तमान में जगा देता है। उसमें जागना है, 'जो है।' 'जो था' वह भी नहीं है, 'जो होगा' वह भी नहीं है। और 'जो है' वह प्रगट तब होता है, जब मानव चित्त स्मृति और कल्पना के भार से मुक्त होता है।

स्मृति मृत का संकलन है, उससे जीवन को नहीं पाया जा सकता है। और कल्पना भी स्मृति की ही पुत्री है। वह उसकी ही प्रतिध्वनि और प्रक्षेप है। वह सब ज्ञात में भटकना है। उससे जो अज्ञात है, उसके द्वार नहीं खुलते हैं।

ज्ञात को जाने दो, ताकि अज्ञात प्रगट हो सके। मृत को जाने दो ताकि जीवित प्रगट हो सके। योग का सार सूत्र यही है। योग का सार सूत्र यही है।

९६.

रात्रि घनी हो रही है। आकाश में थोड़े से तारे हैं और पश्चिम में खंडित चांद लटका हुआ है। बेला फूला है और उसकी गंध हवा में तैर रही है।

मैं एक महिला को द्वार तक छोड़कर वापिस लौटा हूं। मैं उन्हें जानता नहीं हूं। कोई दुख उनके चित्त को घेरे हुये है। उसकी कालिमा उनके चारों ओर एक मंडल बनाकर खड़ी हो गई है।

यह दुख मंडल उनके आते ही मुझे अनुभव हुआ था। उन्होंने भी, बिना समय खोये आते ही पूछा था कि क्या कोई दुख मिटाया जा सकता है? मैं, उन्हें देखता हूं - वे दुख की एक प्रतिमा मालूम होती हैं।

और, सारे लोग ही धीरे-धीरे ऐसी ही प्रतिमायें होते जा रहे हैं। वे सभी दुख मिटाना चाहते हैं, पर नहीं मिटा पाते हैं, क्योंकि दुख का निदान उनका सत्य नहीं है।

चेतना की एक स्थिति में दुख होता है। वह उस स्थिति का स्वरूप है, उस स्थिति के भीतर दुख से छुटकारा नहीं है, कारण, वह स्थिति ही दुख है। उसमें एक दुख हटावें तो दूसरा आ जाता है। यह शृंखला चलती जाती है - इस दुख से छूटें, उस दुख से छूटें, पर दुख से छूटना नहीं होता है। दुख बना रहता है, केवल निमित्त बदल जाते हैं। दुख से मुक्ति पाने से नहीं, चेतना की स्थिति बदलने से ही दुख निरोध होता है-दुख मुक्ति होती है। एक अंधेरी रात गौतम बुद्ध के पास एक युवक पहुंचा था : दुखी, चिंतित, संताप ग्रस्त। उसने जाकर कहा था : 'संसार कैसा दुख है, कैसी पीड़ा है।' गौतम बुद्ध बोले थे - 'मैं जहां हूं, वहां आ जाओ, यहां दुख नहीं है, यहां संताप

एक चेतना है, जहां दुख नहीं है । इस चेतना के लिये ही बुद्ध बोले थे : 'जहां मैं हूं ।' मनुष्य की चेतना की दो स्थितियां हैं : अज्ञान की और ज्ञान की, पर तादात्म्य और स्व बोध की । मैं जब तक पर से तादात्म्य कर रहा हूं, तब तक दुख है । यह पर बंधन ही दुख है। पर से मुक्त होकर स्व को जानना और स्व में होना दुख निरोध है । मैं अभी मैं नहीं हूं : इससे दुख है । मैं जब वस्तुतः मैं होता हूं, तब दुख मिटता है ।

९७.

आकाश आज तारों से नहीं भरा है। काली बदलियां घिरी हैं और रह रह कर बूंदें पड़ रही हैं।

रात रानी के फूल खिल गये हैं और हवायें सुवासित हो गई हैं। मैं हूं ऐसा कि जैसे नहीं ही हूं, और न होकर होना पूर्ण हो गया है। एक जगत् है, जहां मृत्यु जीवन है और जहां खो जाना पा जाना है। एक दिन सोचा था बूंद को सागर में गिरा देना है : अब पाता हूं कि यह तो सागर ही बूंद में गिर आया है।

मनुष्य का होना ही उसका बंधन है। उसका शून्य होना मुक्ति है। यह होने की गांठ व्यर्थ ही भटकाती है। और शून्य होने का भय पूर्ण होने से रोकता है। जब तक न कुछ होने की तैयारी नहीं है, तब तक मनुष्य न कुछ ही बना रहता है। मृत्यु में उतरने का जब तक साहस नहीं है, तब तक मृत्यु में ही भटकना होता है। पर जो मृत्यु लेने को तैयार हो जाता है : वह पाता है कि मृत्यु है ही नहीं और जो मिटने को राजी हो जाता है, वह पाता है कि उसमें कुछ है जो कि मिट ही नहीं सकता है।

ऐसा विरोध का नियम जीवन का नियम है। इस नियम को जानना योग है। और ठीक से जान लेना उसके बाहर हो जाना है। विरोध के इस नियम का ज्ञात न होना ही भटकाता है : ज्ञात हो जाने से भटकन समाप्त हो जाती है। और वह उपलब्ध होता है, जो यात्रा का पड़ाव नहीं, यात्रा का अंत है।

९८.

एक पूर्णिमा की रात्रि मधुशाला से कुछ लोग नदी तट पर नौका-विहार को गये थे। उन्होंने एक नौका को खेया–अर्ध रात्रि से प्रभात तक वे अथक पतवार चलाते रहे थे। सुबह सूरज निकला-ठंडी हवायें वहीं तो उनकी मधु-मूर्च्छा टूटने लगी- उन्होंने सोचा कि अब वापिस लौटना उचित है। यह देखने के लिये कि वे कहां तक चले आये हैं, वे नौका से तट पर उतरे। पर तट पर उतरते ही उनकी हैरानी की सीमा न रही-क्योंकि उन्होंने पाया कि नौका वहीं खड़ी है जहा रात्रि उन्होंने उसे पाया था!

रात्रि वे यह भूल ही गये थे कि पतवार चलाना भर पर्याप्त नहीं है —नौका को तट से खोलना भी पड़ता है।

संध्या आज यह कहानी कहा हूं। एक वृद्ध आये थे। वे कह रहे थे: मैं जीवन भर चलता रहा हूं लेकिन अब अंत में ऐसा लगता है कि कहीं पहुंचना नही हुआ। उनसे ही यह कहानी कहनी पड़ी है। मनुष्य मूर्च्छित है। स्व अज्ञान उसकी मूर्च्छा है। इस मूर्च्छा में समस्त कर्म उसका यांत्रिक है। इस विवेक शून्य स्थिति में वह चलता है- जैसे कोई निद्रा मे चलता है-पर कहीं पहुंच नही पाता है। नाव की जंजीरें जैसे तट से बंधी रह गई थी, ऐसे ही इस स्थिति में वह भी कहीं बंधा रह जाता है।

इस बंधन को धर्म ने वासना कहा है। वासना से बंधा मनुष्य, आनन्द के निकट पहुंचने के भ्रम में बना रहता है। पर उसकी दौड़ एक दिन मृग मारीचिका सिद्ध होती है। वह कितनी ही पतवार चलाये, उसकी नाव अतृप्ति के तट को छोड़ती ही नही है। वह रिक्त और अपूर्ण ही जीवन को खो देता है। वासना स्वरूपत: दुष्पूर

हैं। जीवन चूक जाता है—वह जीवन जिसमें दूसरा किनारा पाया जा सकता था—वह जीवन जिसमें यात्रा पूरी हो सकती थी—व्यर्थ हो जाता है और पाया जाता है कि नाव वहीं की वहीं खड़ी है।

प्रत्येक नाविक जानता है कि नाव को सागर में छोड़ने के पहले तट से खोलना होता है। प्रत्येक मनुष्य को भी जानना चाहिये कि आनन्द के, पूर्णता के, प्रकाश के सागर में नाव छोड़ने के पूर्व तट से वासना की जंजीरें अलग कर लेनी होती हैं। इसके बाद तो फिर शायद पतवार भी नहीं चलानी पड़ती है! रामकृष्ण कहते हैं: 'तू नाव तो छोड़ तू पाल तो खोल प्रभु की हवायें प्रतिक्षण तुझे ले जाने को उत्सुक हैं।

९९.

एक साधु कल आये थे। ध्यान की साधना पर उनसे बातें हुई हैं। यह जानकर बहुत आश्चर्य होता है कि मन के स्वरूप के सम्बन्ध में कितनी भ्रांत और मिथ्या धारणायें प्रचलित हैं। उसे शत्रु मान कर साधना प्रारम्भ करने से सब साधना ही गलत हो जाती है। न मन शत्रु है, न शरीर शत्रु है। वे तो यंत्र हैं और सहयोगी हैं। चेतना उनका जैसा उपयोग करना चाहे कर सकती है। प्रारम्भ से ही शत्रुता और संघर्ष की वृत्ति दमन पैदा करती है। और परिणाम स्वरूप सारा जीवन विषाक्त हो जाता है।

मनुष्य का मन स्वभावत. आनन्दोन्मुख है। इसमें कुछ बुरा भी नहीं है। यह तो उसका स्वरूप के प्रति आकर्षण है। यह न हो तो व्यक्ति कभी आत्मिक जीवन की ओर नहीं जा सकता है। यह मन आनन्द की खोज ससार में करता है और फिर जब उसे वहां नहीं पाता है तो भीतर की ओर मुड़ता है।

आनन्द केन्द्र है। ससार का भी—मोक्ष का भी। उसकी धुरी पर ही सारा लौकिक पारलौकिक जीवन घूमता है।

इस आनन्द की झलक बाहर दीखती है : इससे बाहर दौड़ होती है। ध्यान से इस आनन्द का वास्तविक स्रोत दीखने लगता है, इससे दिशा वहा मुड़ जाती है। मन को जबरदस्ती भीतर नहीं मोड़ना है। इस दमन से ही वह शत्रु मालूम होने लगता है। आनन्द का नया आयाम खोलना है। इस आयाम के खुलते ही मन अपने आप भीतर जाता पाया जाता है। वह तो आनन्दोन्मुख है : जहां आनन्द है, वहां उसकी सहज गति है।

आनन्द जीवन का लक्ष्य है। आनन्द—अखंड आनन्द, जीवन का उद्देश्य है। संसार में उसकी झलक है—प्रतिफलन है : मोक्ष में उसका मूलस्रोत है। बाहर उसका प्रक्षेप है, भीतर उसका मूल है। परिधि पर छाया है, केन्द्र पर उसके प्राण हैं। इससे संसार मोक्ष का विरोध नहीं है। बाहर भीतर का द्वन्द्व नहीं है। समस्त सत्ता एक संगीत है। इस सत्य के दर्शन होते ही व्यक्ति बंधन के बाहर हो जाता है।

१००.

सुबह ही सुबह एक युवक आ गये हैं। उदास दिखते हैं और लगता है कि जैसे भीतर किसी एकाकीपन ने घेर लिया है। कुछ जैसे खो गया है और आंखें उसे खोजती मालूम होती हैं। मेरे पास वे कोई वर्ष भर से आ रहे हैं और ऐसे भी एक दिन आयेंगे यह भी मैं भली भांति जानता था। इसके पूर्व उनमें काल्पनिक आनन्द था वह धीरे-धीरे विलीन हो गया है।

कुछ देर सन्नाटा सरकता रहा है। उनने आंखें बन्द कर लीं हैं और कुछ सोचते से मालूम होते हैं। फिर, प्रगटतः बोले हैं: 'मैं अपनी आस्था खो दिया हूं, मैं एक स्वप्न में था वह जैसे खंडित हो गया है। ईश्वर साथ मालूम होता था अब अकेला रह गया हूं, और बहुत घबराहट होती है। इतना असहाय तो मैं कभी भी नहीं था। पीछे वापिस लौटना चाहता हूं पर वह भी अब संभव नहीं दीखता है। वह सेतु खंडहर हो गया है।

मैं कहता हूं: "जो नहीं था, केवल वही छीना जा सकता है। जो है, उसका छीनना संभव नहीं है। स्वप्न और कल्पना के साथी से एकाकीपन मिटता नहीं है केवल मूर्च्छा में दब जाता है। ईश्वर की कल्पना और मानसिक प्रक्षेप से मिला आनन्द वास्तविक नहीं है। वह सहारा नहीं भ्रांति है। और भ्रांतियों से जितनी जल्दी छुटकारा हो उतना ही अच्छा है। ईश्वर को वस्तुतः पाने के लिये समस्त मानसिक धारणाओं को त्यागना पड़ता है। और उन धारणाओं में ईश्वर की धारणा भी अपवाद नहीं है। वह भी छोड़नी पड़ती है। यही त्याग है और यही तप है। क्योंकि स्वप्नों को छोड़ने से अधिक कष्ट और किसी बात में नहीं है। कल्पना, स्वप्न और धारणाओं के विसर्जन पर

'जो है' वह अभिव्यक्त होता है। निद्रा टूटती है और जागरण आता है। फिर जो पाना है वही पाना है क्योंकि उसे कोई छीन नहीं सकता है। वह किसी और अनुभूति से खंडित नहीं होती है, क्योंकि वह पर अनुभूत नहीं है, स्वानुभूति है। वह किसी दृश्य का दर्शन नहीं, स्वयं शुद्ध द्रष्टा का बोध है। वह ईश्वर का विचार नहीं, स्वयं ईश्वर में होना है। ईश्वर की काल्पनिक धारणा और आस्था खो गई है—तो घबड़ाओ मत।

"सब धारणायें खो दो—और फिर देखो। तब जो दिखाई पड़ता है, वही ईश्वर है।"

१०१.

एक मित्र कुछ कागज के फूल भेंट कर गये हैं। उन फूलों को देखता हूं—जो दीख रहा है उसके पार उनमें कुछ भी नहीं है। उनमें सब कुछ दृश्य है, अदृश्य कुछ भी नहीं है और बाहर क्यारियों में गुलाब के फूल खिले हैं उनमें जो दीख रहा है उसके पार कुछ अनदीखा भी है और वह अदृश्य ही उनका प्राण है।

आधुनिक सभ्यता कागज के फूलों की सभ्यता है। दीखने—दृश्य पर वह समाप्त है। और इसीलिये निष्प्राण भी है। अदृश्य—से अज्ञात से नाता टूट गया है और इसलिये मनुष्य जितना आज जड़ों से अलग हो गया है उतना उसके पूर्व कभी भी नहीं हुआ था।

वृक्ष, फूल, फल, पत्ते सब—दृश्य है पर जड़ें भूमि में होती हैं—जड़ें अज्ञात और अदृश्य में होती हैं और जो जड़े देखी जा सकती हैं जड़ें उन पर ही समाप्त नहीं हो जाती हैं—और भी जड़ें हैं जो देखी नहीं जा सकती। प्राण जहां से महाप्राण से संयुक्त है, वह केन्द्र अज्ञात ही नहीं, अज्ञेय भी है। इस अज्ञेय से संयुक्त मनुष्य वास्तविक जड़ों को पा जाता है।

इस अज्ञेय को विचार से नहीं पाया जा सकता है। विचार की सीमा ज्ञेय पर समाप्त है। विचार स्वयं ज्ञेय और दृश्य है। और जो दृश्य है वह अदृश्य को जानने का माध्यम नहीं बन सकता है। सत्ता विचार के पार है: अस्तित्व विचार के अतीत है।

" अस्तित्व को इसलिये जाना नहीं जाता है, हुआ जाता है। उससे प्रथक—दर्शक होकर परिचित होना नहीं होता वरन् उसमें एक होकर होना होता है।

विचार छोड़कर, शान्त शून्य होकर, वह अद्वैत आता है, जो त्य में—सत्ता में खड़ा कर देता है। कागज के फूल देखने हों तो दूर से दे जा सकते है, उनका द्रष्टा हुआ जा सकता है, पर असली फूल हने हों तो फूल ही बन जाना जरूरी है।

१०२.

एक लड़की रो रही है : उसकी गुड़िया टूट गई है—और अब मैं सोचता हूं कि सब रोना क्या गुड़ियों के टूट जाने के लिये ही रोना नहीं है ?

कल संध्या एक वृद्ध आये थे । उनने जीवन में जो चाहा था, वह नहीं हो सका । वे उदास थे और संताप ग्रस्त थे । एक महिला आज मिली थीं और बातें करते-करते आंसू पोंछ लेती थी : उनने स्वप्न देखे थे और वे सत्य नहीं हुये हैं । और अब यह लड़की रो रही है । और क्या इस लड़की की आंखों में सब आंसुओं की बुनियादी झलक नहीं है ? और, उसके सामने टूट पड़ी गुड़िया में क्या सब आंसुओं का मूल कारण साकार नहीं हुआ है ? उसे कोई समझा रहा है कि आखिर गुड़िया ही तो है, उसके लिये रोना क्या है ? यह सुन मुझे हंसी आ गई है : काश मनुष्य इतना ही जान ले तो क्या समस्त दुख समाप्त नहीं हो जाता है ?

गुड़िया बस गुड़िया है, यह जानना कितना कठिन है ।

मनुष्य मुश्किल से इतना प्रौढ़ हो पाता है कि यह जान सके । शरीर का प्रौढ़ होना एक बात है, मनुष्य का प्रौढ़ होना बिल्कुल दूसरी बात है । प्रौढ़ता क्या है ? मनुष्य की प्रौढ़ता मन से मुक्त होना है । मन जब तक है, तब तक गुड़ियों को बनाता रहता है । मन से मुक्त होते ही गुड़ियों से मुक्ति होती है ।

१०३.

"मैं साधक हूं। आध्यात्मिक साधना में लगा हुआ हूं। क्रमशः शांति होती जा रही है, एक दिन प्राप्ति भी हो जाने को है।"

एक साधु ने एक दिन मुझ से कहा था। उनके शब्दों में मुझे साधना नहीं, वासना ही दिखी थी। ऐसी साधना भी बाधा है। जो है, उसे पाने का अभ्यास क्या करना है? उसे पाना भी तो नहीं, यही जानना है कि वह खोया ही नहीं गया है। और तथाकथित साधना का उपक्रम इस सत्य को छिपा देता है। उसके मूल में भी वासना है और कुछ पाने और कुछ बदलने की आकांक्षा है। मैं जो हूं, उसे बदलना है। 'अ' को 'ब' बनाना है। समस्त वासना के मूल में यही द्वन्द्व होता है: यही द्वैत होता है। यह द्वैत ही जगत है और दुख है।

मैं कहता हूं "आप जो हो, उसमें जरा भी कुछ और होने की आकांक्षा यदि है, तो आप 'जो हैं' उसके विपरीत जा रहे हैं।" और 'जो है' वही मार्ग है। 'जो है' उसके प्रति जागने [illegible] सहजता और सौन्दर्य से भर जाता है। एक स्वतंत्रता [illegible] स्वाद में भर जाती है। यह सौंदर्य तथाकथित [illegible] उपलब्ध नहीं होता है। उसमें एक हिंसा, एक [illegible] वासना के कारण सहजता को नष्ट कर देते हैं। [illegible] समस्त तथाकथित साधुओं में होती है।

फिर क्या करें? कुछ भी नहीं। [illegible] ध्यान है। कर्म से ध्यान नहीं है, विचार से [illegible] के बाहर होते ही वह आविष्कृत हो [illegible] जाने दो सब विलीन हो जाने दो [illegible] में जो दीखता है, वही सत्य है।

१०४

एक प्रबोध कथा है :

एक युवक ने किसी साधु से पूछा था : 'मोक्ष की विधि क्या है ?' उस साधु ने कहा : "तुम्हें बांधा किसने है ?" वह युवक एक क्षण रुका फिर बोला, "बांधा तो किसीने भी नहीं है।"

तब उस साधु ने पूछा : "फिर मुक्ति क्यों खोजते हो ?"

मुक्ति क्यों खोजते हो ? यही कल मैंने भी एक व्यक्ति से पूछा है। प्रत्येक को अपने से पूछना है। बंधन है कहां ? जो है, उसके प्रति जागो। जो है, उसके बदलने की फिक्र छोड़ो। आदर्श के पीछे मत दौड़ो। जो भविष्य में है वह नहीं, जो वर्तमान है वही तुम हो। और वर्तमान में कोई बंधन नही है। वर्तमान के प्रति जागते ही बंधन नही पाये जाते हैं।

आकांक्षा, कुछ होने और कुछ पाने की आकांक्षा ही बंधन है। आकांक्षा सदा भविष्य में है, आकांक्षा सदा कल है, वही बंधन है, वही तनाव है, वही दौड़ है, वही संसार है। यह आकांक्षा ही मोक्ष का निर्माण करती है। मोक्ष पाने मूल मे वही है। और बंधन मूल में हो तो परिणाम में मोक्ष कैसे हो सकता है ?

मोक्ष की शुरुआत मुक्त होने से करनी होती है। वह अंत ही नहीं, वही प्रारम्भ भी है।

मोक्ष पाना नहीं है वरन् दर्शन करना है कि मैं मोक्ष में ही खड़ा हूं। मैं मुक्त हूं, यह बोध शान्त जागृत चेतना में सहज ही उपलब्ध हो जाता है। प्रत्येक मुक्त है, केवल इस सत्य के प्रति जागना मात्र है।

मैं जैसे ही दौड़ छोड़ता हूं कुछ होने की दौड़ जैसे ही जाती है कि मैं हो आता हूं और 'हो आना' पूरे अर्थों में हो आना ही मुक्ति है।

तथाकथित धार्मिक इस 'हो जाने' को नहीं पा पाता है क्योंकि वह दौड़ में है मोक्ष पाने की, आत्मा को पाने की, ईश्वर को पाने की और जो दौड़ में है चाहे उस दौड़ का रूप कुछ भी क्यों न हो वह अपने में नहीं है। धार्मिक होना आस्था की बात नहीं, किसी प्रयास की बात नहीं, किसी क्रिया की बात नहीं, धार्मिक होना तो अपने में होने की बात है। और यह मुक्ति एक क्षण-मात्र में आ सकती है :– इस सत्य के प्रति सजग होते ही, जागते ही कि बंधन दौड़ में है, आकांक्षा में है, आदर्श में है अंधेरा गिर जाता है और जो दीखता है, उसमें बंधन पाये ही नहीं जाते हैं।

सत्य एक क्षण में क्रान्ति कर देता है।

१०५.

सूरज निकलता है। सर्दियों की सुवह। रात हवायें ठंडी थी। और सुवह दूब पर ओसकण भी छायें हुये थे। अब तो किरणें उन्हें पी गई हैं। और धूप भी गरमा गई है।

एक सुखद सुवह दिन का प्रारम्भ कर रही है। पक्षियों के अर्थहीन गीत भी कितने अर्थपूर्ण मालूम होते हैं पर शायद जीवन में कोई अर्थ नहीं है। और अर्थ ही कल्पना मनुष्य की अपनी है। अर्थ नहीं, शायद **इससे ही जीवन में अनन्त गहराई और विस्तार है।** अर्थ तो सीमा है: जीवन अस्तित्व है असीम, इससे अर्थ वहां कोई भी नहीं है। और जो अपने को इस असीम में असीम कर लेता है, इस विराट् अर्थ शून्य में अर्थ शून्य हो जाता है, वह उसे पा लेता है 'जो है'—वह उस अस्तित्व को पा लेता है। सब अर्थ क्षुद्र है और क्षुद्र का है। सब अर्थ अहं के बिन्दु से देखा गया है। अहं ही अर्थ का केन्द्र है। **उससे जो जगत् देखा जाता है, वह वास्तविक जगत् नहीं है। जो भी 'मैं से संबंधित है, वह वास्तविक नहीं है।** सत्य अखंड इकाई है, वह 'मैं' और 'न मैं' में विभाजित नहीं है। सब अर्थ मैं का है। इससे जो अखंड है, जो 'मैं' और 'न मैं' के अतीत है, वह अर्थ शून्य है। उसमें न अर्थ है, न अर्थ नहीं है। उसे कोई भी नाम देना गलत है। उसे ईश्वर कहना भी गलत है। ईश्वर भी 'मैं, के ही प्रसंग में है। वह भी मैं की ही धारणा है। कहें कि जो भी सार्थक है, वह व्यर्थ है। सार्थकता की सीमा के बाहर हो जाना आध्यात्मिक होजाना है।

वोधिधर्म से किसी ने पूछा था: 'पवित्र निर्वाण के संबंध में कुछ कहें? 'वह बोला था: **'पवित्रता कुछ भी नहीं, बस शून्यता और** केवल शून्यता।"

एक मुर्गा बोल रहा है : सुनता हूं ।

एक गाड़ी मार्ग से जा रही है : देखता हूं ।

सुनना है, देखना है और बीच में कोई शब्द नहीं है । शब्द सत्ता से तोड़ देता है । शब्द सत्य के संबंध में है, सत्य नहीं है । सत्य तक शब्द से नहीं, शब्द खोकर पहुंचना होता है ।

और, शब्द खोना समाधि है । लेकिन केवल शब्द खोना मात्र समाधि नहीं है । शब्द तो मूर्च्छा में भी खो जाते हैं । सुषुप्ति में भी खो जाते हैं । शब्द खोकर भी जागृत चेतन और प्रबुद्ध बने रहना समाधि है ।

यह एक साधु से कह रहा हूं । वे तल्लीनता और मूर्च्छा को समाधि मानते रहे हैं । यह भ्रम बहुतों को रहा है। यह भ्रम बहुत घातक है । इस भ्रम से ही पूजा और भक्ति और मूर्च्छित होने के 'बहुत से उपाय प्रचलित हुये हैं । वे सब उपाय पलायन हैं और उनका उपयोग मादक द्रव्यों से भिन्न नहीं है । उनमें व्यक्ति अपने को भूल जाता है । इस भूलने, इस आत्म विस्मरण से आनन्द का आभास पैदा होता है । पर योग आत्म विस्मरण नहीं, पूर्ण आत्म स्मरण चाहता है ।

मैं जब परिपूर्ण रूप से जागता हूं, तब मैं परिपूर्ण रूप [illegible] हो पाता हूं । यह जागना शब्द से, विचारसे, मन से, मुक्त होने से होता है । इस जाग्रति में, इस शब्द शून्य चेतना में, 'मैं' मिट जाता है । पर मैं नहीं मिटता हूं, वरन मैं के मिट जाने पर अहं बोध के मिट जानेपर मैं परिपूर्ण हो जाता हूं ।

१०७;

अमावस उतर रही है। पक्षी नीड़ों पर लौट आये हैं और घिरते अंधेरे मे वृक्षों पर रात्रि विश्राम के पूर्व की चहल पहल है। नगर में दीप जलने लगे हैं : थोड़ी ही देर में आकाश में तारे और नीचे दीप-दीप हो जाने को हैं।

पूर्वीय आकाश में दो छोटी काली बदलियां तैर रही हैं। कोई साथी नही है : एकदम अकेला हूं। कोई विचार नहीं : बस बैठा हूं और बैठना कितना आनन्द है। आकाश और आकाश गंगा अपने में समा गई मालूम होती है!

विचार नहीं होते है तो व्यक्ति सत्ता विश्व सत्ता से मिल जाती है। एक छोटा-सा ही पर्दा है अन्यथा प्रत्येक प्रभु है। आंख पर तिनका है और तिनके ने प्रभु को छिपा लिया है। यह छोटा-सा ही तिनका संसार बन गया है। इस छोटे से तिनके के हटते ही —अनन्त— आनन्द राज्य के द्वार खुल जाते हैं।

जीसस क्राइस्ट ने कहा है: "जरा सा खट-खटाओ और द्वार खुल जाते है" में तो कहता हूं :" जरा सा झांको भर द्वार खुले ही हैं।" एक व्यक्ति सूर्यास्त की दिशा में भागा जा रहा था। उसने किसी से पूछा : पूर्व कहां है? उत्तर मिला : पीठ भर फेर लो पूर्व तो आंख के सामने ही मिल जायेगा। सब उपस्थित है : ठीक दिशा में आंख भर फेरने को आवश्यकता है।

यह बात सारे जगत् में कह देनी है। इसे ठीक से सुन भी लेना, बहुत कुछ पा लेना है। स्व दिव्यता की आस्था आधी उपलब्धि है। मैं आज ही मिलने आये एक मित्र से कहा है : [illegible]

१०८.

रात्रि अभी गई नहीं है और विदा होते तारों से आकाश भरा है। नदी एक पतली चांदी की धार जैसी मालूम होती है। रेत रात गिरी ओस से ठंड़ी हो गई है और हवाओं में भी बहुत ठंडक है।

एक गहरा सन्नाटा है और बीच-बीच में पक्षियों की आवाज उसे और गहरा देती है।

एक मित्र को साथ ले कुछ जल्दी ही इस एकांत में चला आया हूं। वे मित्र कह रहे हैं कि एकांत में भय मालूम होता है और सन्नाटा काटता-सा लगता है। किसी भांति अपने को भरे रहें तो ठीक अन्यथा न मालूम कैसा संताप और उदासी घेर लेती है।

यह संताप प्रत्येक को घेरता है। कोई भी अपना साक्षात् नहीं करना चाहता है। स्वयं में झांकने से घबड़ाहट मालूम होती है और एकांत स्वयं के साथ छोड़ देता है, इसलिये एकांत भयभीत करता है। 'पर' में उलझे हों तो 'स्व' भूल जाता है। यह एक तरह की मूर्च्छा है और पलायन है। सारे जीवन मनुष्य इस पलायन में लगा रहता है पर यह पलायन अस्थायी है और मनुष्य किसी भी भांति अपने आप से बच नहीं सकता है। बचाव के लिये की गई उसकी सब चेष्टायें व्यर्थ हो जाती हैं क्योंकि वह जिससे बचना चाह रहा है वह स्वयं तो वही है। अपने से कैसे बचा जा सकता है और अपने से कैसे भागा जा सकता है हम सबसे भाग सकते हैं पर स्वयं से नहीं भाग सकते हैं। जीवन भर भागकर हम अंत में पायेंगे कि कहीं भी नहीं पहुंचे हैं। इसलिये, जो विवेकशील हैं, वे स्वयं से भागते नहीं, स्वयं का साक्षात् करते हैं।

मनुष्य भीतर झांके तो शून्य को अनुभव करता है। वहां अनंत शून्य है। इसलिये घबड़ाकर वह बाहर भागता है। उस शून्य को

भरने को वह अनंत प्रयास करता है। संसार में और संबंधों में, उस शून्य को भरना चाहता है। पर वह शून्य किसी भी तरह से भरा नहीं जा सकता है। उसे भरना असंभव है, और यही उसका संताप है और असफलता है। मृत्यु इसी संताप को उघाड़कर उसके सामने कर देती है। मृत्यु उसे इसी शून्य में डाल देती है, जिससे वह जीवन भर बचता था और इसीलिये मृत्यु का भय सर्वोपरि है।

मैं कहता हूं कि स्वयं के शून्य से भागना अज्ञान है। उसके साक्षात् से--उसमें प्रवेश से, जीवन का समाधान उपलब्ध होता है। धर्म शून्य में प्रवेश है। मनुष्य नितांत एकांत में अपने साथ जो करता है वही धर्म है।

१०९.

'जीवन का आदर्श क्या है ?'

एक युवक ने पूछा है।

रात्रि घनी हो गई है और तारों से आकाश भरा है। हवाओं में आज सर्दी है और शायद कोई कहता था कि कहीं ओले पड़े हैं। राह निर्जन है और वृक्षों के तले घना अंधेरा है।

और इस शान्त शून्य घिरी रात्रि में जीना कितना आनन्द है। होना मात्र ही कैसा आनन्द है। पर हम होना ही भूल गये हैं। जीवन कितना आनन्द है पर हम मात्र जीना नहीं चाहते हैं। हम तो किसी आदर्श के लिये जीना चाहते हैं। जीवन को साधन बनाना चाहते हैं जो कि स्वयं साध्य है। यह आदर्श की दौड़ सब विषाक्त कर देती है। यह आदर्श का तनाव सब संगीत तोड़ देता है।

अकबर ने एक बार तानसेन से पूछा था : 'तुम अपने गुरु जैसा क्यों नहीं गा पाते हो उनमें कुछ अलौकिक दिव्यता है। उत्तर में तानसेन ने कहा था : वे केवल गाते हैं गाने के लिये गाते हैं और मैं मेरे गाने में उद्देश्य है।'

किसी क्षण केवल जीकर देखो। केवल जीओ जीवन से लड़ो मत छीना झपटी न करो। चुप होकर देखो : क्या होता है ? जो होता है, उसे होने दो। 'जो है' उसे होने दो। अपनी तरफ से सब तनाव छोड़ दो और जीवन को बहने दो जीवन को घटित होने दो और जो घटित होगा मैं विश्वास दिलाता हूं वह मुक्त कर देता है।

आदर्श का भ्रम सदियों पाले गये अंधविश्वासों में से एक है। जीवन किसी और के लिये, कुछ और के लिये नहीं, बस जीने के लिये है। जो किसी लिये जीता है, वह जीता ही नहीं है, जो केवल जीता

है वही जीता है और वही उसे पा लेता है, जोकि पाने जैसा है। वही आदर्श को भी पा लेता है।

उस युवक की ओर देखता हूं। उसके चेहरे पर एक अद्भुत शान्ति फैल गई है। वह कुछ बोलता नहीं है। पर मन बोल देता है। कोई एक घंटा मौन और शान्त बैठकर वह गया है। वह बदलकर गया है। जाते समय उसने कहा है : 'मैं दूसरा व्यक्ति होकर जा रहा हूं।'

११०.

सुबह हो गई है। सूरज बदलियों में है और धीमी फुहार पड़ रही है। वर्षा ने सब गीला गीला कर दिया है।

एक साधु भीगते हुये, पानी में मिलने आये हैं। कोई पंद्रह बीस वर्ष हुये तब उन्होंने आत्म उपलब्धि के लिये गृह त्याग किया था। त्याग तो हुआ पर उपलब्धि नहीं हुई। इससे अब दुखी हैं। समाज और संबंध आत्म लाभ में बाधा समझे जाते हैं। ऐसी मान्यता ने व्यर्थ में अनेकों को जीवन से तोड़ दिया है।

एक कहानी उनसे मैं कहता हूं। एक पागल स्त्री थी। उसे पूर्ण विश्वास था कि उसका शरीर स्थूल भौतिक नहीं है। वह अपने शरीर को दिव्य काया मानती थी। वह कहती थी कि उसकी काया से सुन्दर काया और दूसरी पृथ्वी पर नहीं है। एक दिन उस स्त्री को एक बड़े आदम कद आइने के सामने लाया गया था। उसने अपने शरीर को उस दर्पण मे देखा: और देखते ही उसके क्रोध की सीमा न रही: उसने पास रखी कुर्सी को उठाकर दर्पण पर फेंका। दर्पण टुकड़े टुकड़े हो गया था तो उसने सुख की सांस ली थी। दर्पण फोड़ने का कारण पूछा तो वह बोली थी कि वह मेरे शरीर को भौतिक किये दे रहा था। मेरे सौंदर्य को वह विकृत कर रहा था।

समाज और संबंध दर्पण से ज्यादा नहीं हैं। जो हममें होता है, वे केवल उसे ही प्रतिबिम्बित कर देते हैं। दर्पण तोड़ना जैसे व्यर्थ है, संबंध छोड़ना भी वैसे ही व्यर्थ है। दर्पण को नहीं, अपने को बदलना है। जो जहां है, वहीं यह बदल हो सकती है। यह क्रान्ति केन्द्र से शुरु होती है। परिधि पर काम करना व्यर्थ ही समय खोना है।

स्व पर सीधे ही काम शुरू कर देना है। समाज और संबंध कहीं भी बाधा नहीं हैं। बाधायें कोई हैं, तो वे स्वयं में हैं।

१११.

'ईश्वर है ?' हमें ज्ञात नही।

'आत्मा है' हमें ज्ञात नही।

'मृत्यु के बाद जीवन है ?' हमें ज्ञात नही।

'जीवन में कोई अर्थ है ?' हमें ज्ञात नहीं।

यह 'हमें ज्ञात नहीं' आज का पूरा जीवन दर्शन है। इन तीन शब्दों में हमारा पूरा ज्ञान समा जाता है। पर के सम्बन्ध में, पदार्थ के संबंध में जानने की हमारी दौड़ का अंत नही है। पर 'स्व' के चैतन्य के संबंध मे हम प्रतिदिन अंधेरे में डूबते जाते हैं।

बाहर प्रकाश मालूम होता है : भीतर घुप्प अंधेरा है। परिधि पर ज्ञान है, केन्द्र पर अज्ञान है।

और आश्चर्य यह है कि केन्द्र को प्रकाशित करने को भी प्रयास नही करना है। वहां आंख भर पहुंच जाये और सब प्रकाशित हो जाता है।

'पर' पर आंख न हो तो वह 'स्व' पर खुल जाती है। बाहर उसे आधार न हो तो वह स्व पर आधार खोज लेती है।

स्वाधार चैतन्य ही समाधि है।

और समाधि सत्य का द्वार है। उसमें यह नहीं कि सब प्रश्नों के उत्तर मिल जाते हैं, वरन् सब प्रश्न ही गिर जाते हैं। प्रश्नों का गिर जाना ही असली उत्तर है। जहां प्रश्न नहीं, और केवल चैतन्य है वहीं उत्तर है वहीं ज्ञान है।

इस ज्ञान को पाये बिना जीवन निरर्थक है।

११२.

"एक सराय मे एक रात्रि एक यात्री ठहरा था। वह जब पहुंचा तो कुछ यात्री विदा हो रहे थे। सुबह जब वह विदाई ले रहा था तो और यात्री आ रहे थे। सराय में अतिथि आते और चले जाते लेकिन आतिथेय वही का वही था।" एक साधु यह कहकर पूछता था कि क्या यही घटना मनुष्य के साथ प्रतिक्षण नहीं घट रही है?

मैं भी यही पूछता हूं और कहता हूं कि जीवन में अतिथि और आतिथेय को पहचान लेने से बड़ी और कोई बात नहीं है। शरीर–मन एक सराय है। उसमें विचार के, वासनाओं के, विकारों के अतिथि आते हैं। पर इन अतिथियों से पृथक भी वहां कुछ है। आतिथेय भी है। यह आतथिय कौन है?

यह 'कौन' कैसे जाना जाये? बुद्ध ने कहा है: 'रुक जाओ', और यह रुक जाना ही उसका जानना है। बुद्ध का पूरा वचन है: 'यह पागल मन रुकता नहीं, यदि यह रुक जाये तो वही बोधि है, वही निर्वाण है।' मन के रुकते ही अतिथेय प्रगट हो जाता है। यह शुद्ध, नित्य बुद्ध, चैतन्य है। जो न कभी जन्मा, न मरा। न जो बद्ध है, न मुक्त होता है। जो केवल है और जिसका होना परम आनन्द है।

११२.

जीवन—जिसे हम जीवन समझते हैं, वह क्या है? रात्रि कोई पूछता था। मैंने उससे एक कहानी कही :

"एक विश्रामालय में दो व्यक्ति आरामकुर्सियों पर बैठे हुये थे। एक युवा था, एक वृद्ध। जो वृद्ध था, वह आँखें बन्द किये था, पर बीच-बीच में मुस्कुरा उठता था। और कभी-कभी हाथ से और चेहरे से ऐसा इशारा करता था, जैसे कुछ दूर हटा रहा हो। युवक से बिना पूछे न रहा गया। वृद्ध ने एक बार आँखें खोलीं तो उसने पूछ ही लिया : 'इस अत्यन्त कुरूप विश्रामगृह में ऐसा क्या है जो आपको मुस्कुराहट सा देता है?' वृद्ध बोला : मैं अपने से कुछ कहानियाँ कह रहा हूं, उनमें ही हँसी आ जाती है। तब युवक ने पूछा : 'और, बार-बार हाथ से हटाते क्या हैं?' वृद्ध हँसने लगा और बोला : 'उन कहानियों को जिन्हें बहुत बार सुन चुका हूं।' फिर युवक ने कहा : 'आप भी क्या कहानियों से मन समझा रहे हैं।' इस पर वृद्ध ने कहा था 'बेटे, एक दिन समझोगे कि पूरा ही जीवन कहानियों से अपने को समझा लेने का नाम है।'

निश्चित ही जीवन जैसा मिलता है, कहानी ही है और कहानियों से अपने को समझा लेने का नाम है।

जिसे हम जीवन समझते हैं, वह स्वप्न ही है। ... नींद टूटने पर ज्ञात होता है कि ... नहीं है ... नहीं, बस केवल दीखना था।

पर, इस स्वप्न-जीवन में ... जागा जा ... निद्रा छोड़ी जा सकती है। ... वह जाग ... उसके सो सकने ... की

११४.

रात्रि आधी होने को है। आकाश आज बहुत दिनों बाद खुला है। सब नहाया नहाया मालूम होता है और आधा चांद पश्चिम क्षितिज में डूबता जाता है।

संध्या आज कारागार में बोला हूँ। बहुत क़ैदी थे। उनसे बातें करते-करते वे कैसे सरल हो जाते हैं। उनकी आंखों में कैसी पवित्रता झलकने लगती है—उसका स्मरण आ रहा है।

मैं वहां कहा हू : "प्रभु की दृष्टि में कोई पापी नहीं है। प्रकाश की दृष्टि में जैसे अंधेरा नहीं है। इसलिये, मैं तुमसे कुछ छोड़ने को नहीं कहता हू। मैं मिट्टी छोड़ने को नहीं कहता हूं : मैं तो हीरे पाने को कहता हूं। हीरे पालो, मिट्टी तो अपने आप छूट जाती है। जो तुम से छोड़ने को कहते हैं, वे ना समझ हैं। जगत में केवल पाया जाता है। एक नयी सीढ़ी पाते हैं तो पिछली सीढ़ी अपने आप छूट जाती है। छोड़ना नकारात्मक है। उसमे पीड़ा है, दुख है, दमन है। पाना सत्तात्मक है। उसमे आनन्द है। क्रिया में छोड़ना पहले दीखता है पर वस्तुतः पाना पहले है। पहले पहली सीढ़ी ही छूटती है, पर उसके पूर्व दूसरी सीढ़ी पा ली गई होती है। उसे पाकर ही, उसे पाया जानकर ही पहली सीढ़ी छूटती है। इससे प्रभु को पाओ तो जो पाप जैसा दीखता है, वह अनायास चला जाता है।

"सच ही उस एक के पाने से सब पा लिया जाता है। उस सत्य के आते ही सब स्वप्न अपने से विलीन हो जाते हैं। स्वप्नों को छोड़ना नहीं है, जागना है। जो स्वप्नों को छोड़ने में लगता है वह उन्हें मान लेता है। हम स्वप्नों को मानते ही नहीं हैं। इससे ही हम कह सके हैं, 'अहम् ब्रह्मास्मि' 'मैं ही ब्रह्म हूं।' यह जिनका उद्घोष है, उनके

लिये अंधेरे की कोई सत्ता नही है।

मित्र इसे जानो। और प्रकाश को अपने भीतर जगाओ और पुकारो। प्रभु को अपने भीतर अनुभव करो। अपने सत्य के प्रति जागो और फिर पाया जाता है कि अंधेरा तो कहीं है ही नही। अंधेरा हमारी मूर्च्छा है और जागरण प्रकाश बन जाता है।"

यह उन कैदियों से कहता था और फिर लगा कि यह तो सबसे ही कहता है क्योंकि ऐसा कौन है, जोकि कैदी नहीं है।

११६.

एक चर्चा में आज उपस्थित था। उपस्थित था जरूर, पर मेरी उपस्थिति न के ही बराबर थी। भागीदार मैं नहीं था: केवल श्रोता था। जो सुना वह तो साधारण था पर जो देखा वह निश्चय ही असाधारण है।

प्रत्येक विचार पर वहां वाद था, विवाद था। वह सब सुना पर दिखाई कुछ और ही दिया। विवाद विचारों पर नहीं 'मैं' पर है। कोई कुछ भी सिद्ध नहीं करना चाहता है, सब मैं को अपने अपने 'मैं' को सिद्ध करना चाहते हैं। विवाद की मूल जड़ इस 'मैं' में है। फिर प्रत्यक्ष मे केन्द्र कहीं दिखे अप्रत्यक्ष में केन्द्र वहीं है। जड़ें सदा ही अप्रत्यक्ष होती है। दिखाई वे नहीं देती, दिखता है जो वह मूल नहीं है। फूल पत्तों की भांति जो दिखता है वह गौण है। उस दिखने वाले पर रुक जावें तो समाधान नहीं है। क्योंकि समस्या ही वहां नही है।

समस्या जहां है, समाधान भी वहीं है। विवाद कहीं नहीं पहुंचते, कारण जो जड़ है उसका ध्यान ही नही आता है।

यह भी दिखाई देता है कि जहां विवाद है वहां कोई दूसरे से नहीं बोलता है। प्रत्येक अपने से ही बातें करता है। प्रतीत भर होता है कि बातें हो रही है। पर जहां 'मैं' है वहीं दिवाल है और दूसरे तक पहुंचना कठिन है। 'मैं' को साथ लिये संवाद असंभव है।

संसार में अधिक लोग अपने से ही बातें करने में जीवन बिता देते हैं।

एक पागल खाने की घटना पढ़ा था। दो पागल विचार विमर्ष में तल्लीन थे पर उनका डाक्टर एक बात देखकर हैरान हुआ। वे बातें

कर रहे थे जरूर और जब एक बोलता था तो दूसरा चुप रहता था पर दोनों की बातों में कोई संबंध, कोई संगति नहीं थी। उसने उनसे पूछा कि जब तुम्हें अपनी-अपनी ही कहना है तो एक दूसरे के बोलते समय चुप क्यों रहते हो? पागलों ने कहा, : 'संवाद का नियम हमें मालूम है, जब एक बोलता है, तब दूसरे का चुप रहना नियमानुसार आवश्यक है।'

यह कहानी बहुत सत्य है और पागलों के ही नहीं, सबके संबंध में सत्य है। बातचीत के नियम का ध्यान रखते हैं सो ठीक, अन्यथा प्रत्येक अपने में ही बोल रहा है।

'मैं' को छोड़े बिना कोई दूसरे से नहीं बोल सकता है। और 'मैं' केवल प्रेम में छूटता है। इसलिये प्रेम में ही केवल संवाद होता है। उसके अतिरिक्त सब विवाद है और विवाद विक्षिप्तता है, क्योंकि उसमें सब अपने द्वारा और अपने से ही कहा जा रहा है।

मैं जब उस चर्चा से आने लगा तो किसी ने कहा : आप कुछ बोले नहीं?

मैंने कहा : "कोई भी नहीं बोला है।"

११६.

एक स्वप्न से जागा हूं। जागते ही एक सत्य दिखा है। स्वप्न में मैं भागीदार भी था, और दृष्टा भी था, स्वप्न में जब तक था दृष्टा भूल गया था, भागीदार ही रह गया था। अब जागकर देखता हूं कि दृष्टा ही था, भागीदार प्रक्षेप था।

स्वप्न जैसा है, संसार भी वैसा ही है। दृष्टा चैतन्य ही सत्य है, शेष सब कल्पित है। जिसे हमने 'मैं' जाना है, वह वास्तविक नहीं है। उसे भी जो जान रहा है, वास्तविक वही है।

यह सब का दृष्टा तत्व सबसे मुक्त और सब से अतीत है। उसने न कभी कुछ किया है, न कभी कुछ हुआ है। वह बस है।

असत्य 'मैं', स्वप्न 'मैं' शान्त हो जाये तो 'जो है' वह प्रगट हो जाता है। इस 'है' को हो जाने देना मोक्ष है, कैवल्य है।

११७.

एक संन्यासी ने मुझे कहा है : 'मैं सब प्रभु के लिये सब छोड़ आया हूं और अब मेरे पास कुछ भी नहीं है।'

मैं देखता हूं कि सच ही उनके पास कुछ भी नहीं है, पर उन्हें कहता हूं कि वह जो छोड़ना था और वही अकेला था जो कि छोड़ा जा सकता था वह अब भी उनके पास है ?

वे अपने चारों ओर देखते हैं। सच ही उनके पास कुछ भी नहीं है जो है, उनके भीतर है। वह उनकी आंखों में है, वह उनके त्याग में है, वह उनके संन्यास में है। वह "मैं" है। उसे छोड़ना ही, अकेला छोड़ना है। क्योंकि शेष सब छीना जा सकता है और, अंततः मृत्यु सब छीन ही लेती है। 'मैं' को कोई नहीं छीन सकता है, मृत्यु भी उसे नहीं छीन पाती है। उसे छीना नहीं जा सकता है, उसे तो केवल छोड़ा ही जा सकता है। उसका तो केवल त्याग ही हो सकता है, और जो छीना नहीं जा सकता है, उसका त्याग ही केवल त्याग है।

इसलिये, प्रभु को समर्पित करने योग्य मनुष्य के पास 'मैं' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। शेष जो भी वह छोड़े, वह केवल छोड़ने के भ्रम में है, क्योंकि वह उसका था ही नहीं। और, इस सब छोड़ने से उल्टे उसका 'मैं' और प्रगाढ़ और परिपुष्ट हो जाता है। 'मैं' केन्द्र से यदि कोई अपना समस्त अस्तित्व भी प्रभु को दे दे, तो भी वह देना नहीं है। 'मैं' को दिये बिना और कुछ भी देना, देना नहीं है।

'मैं' एकमात्र परिग्रह है। 'मैं' एकमात्र बंधन है। और उसे जो छोड़ता है, वही अपरिग्रही है, वही मुक्त है।

'मैं' संसार है। 'मैं' का अभाव संन्यास है।

'मैं' को दे देना वास्तविक धार्मिक क्रान्ति और परिवर्तन है, क्योंकि उसके रिक्त स्थान में ही वह आता है, जो कि मेरा 'मैं' नहीं है, वरन् सर्व का 'मैं' है।

सिमोन वेल्र का एक कथन मुझे बहुत प्रिय है, जिसमें उसने कहा है कि प्रभु के अतिरिक्त किसी को भी 'मैं' कहने का कोई अधिकार नहीं है।

सच ही, 'मैं' कहने का अधिकार केवल उसे ही है, जो कि समस्त सत्ता का केन्द्र है, पर उसे 'मैं' कहने का कोई कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि उसके लिये सब 'मैं' ही है। जिसे अधिकार है, उसे कहने का कारण नहीं है, और जिसे कहने का कारण है, उसे कोई अधिकार नहीं है!

पर मनुष्य अपने अनधिकार को खोकर, अधिकार को पा सकता है। वह 'मैं' होना छोड़कर 'मैं' हो सकता है। वह अपने केन्द्र के आभास को छोड़कर, सत्य केन्द्र को पा सकता है। वह जिस क्षण अपने केन्द्र को विकेन्द्रित कर देता है, उसी क्षण केन्द्र को उपलब्ध हो जाता है।

मनुष्य का 'मैं' सत्य नहीं है। वह संघात है। उसकी कोई सत्ता नहीं है। वह संग्रह है। इस संग्रह से सत्य का जो भ्रम पैदा होता है। वही अज्ञान है। पर जो इस संग्रह में झांकता है, देखता है, और सत्य को खोजता है, उसके समक्ष आभास टूट जाता है और 'मैं' की माला के फूल बिखर जाते हैं, और तब वह सूत्र उपलब्ध होता है जो कि सत्य है और जिस पर कि 'मैं' के फूल टंगे थे और जिसे कि उन फूलों ने ढांक रखा था।

फूलों के हटने पर उनके आच्छादन के टूटने पर पाया जाता है

कि जो उनका आधार था वह मेरा ही नहीं है, वह मुझमें और सब में भी है वह समस्त सत्ता में पिरोया हुआ है।

जो 'मैं' की इस मृत्यु से नहीं गुजरता है, वह परमात्मा के जीवन से वंचित रह जाता है। 'मैं' की मृत्यु, परमात्मा से सत्य से, सत्ता से, हमारे भेद और अंतर की मृत्यु है। उसके गिरते ही वह फासला गिर जाता है, जो कि हमें स्वयं हमसे ही तोड़े हुआ था और वह व्यक्ति धन्य भागी है, शरीर की मृत्यु के पूर्व इस मृत्यु को उपलब्ध होता है।

११८.

सत्य के लिये जिसकी अभीप्सा है, वह जाने कि उसे सत्य की कोई कल्पना, कोई धारणा स्वीकार नहीं करनी है। उस स्वीकार पर ही साधना का आत्मघात हो जाता है।

सत्य को पाने के लिये चित्त के द्वारा दिये गये सारे प्रलोभनों को छोड़ने का साहस चाहिये। चित्त से प्रदत्त कोई भी विकल्प स्वीकार नहीं करना है। तभी वह निर्विकल्प अवस्था आती है, जो स्वयं के समक्ष स्वयं के प्रत्यक्ष को देती है। यह अंत : प्रत्यक्षानुभ ज्ञान की सह घड़ी आ सके उसके पूर्व बहुत कुछ आता है, जो कि सत्य नहीं है, और उसमें जो उलझता है, वह और कुछ भी जान ले स्वयं को नहीं जानता है। स्वयं को कभी भी ज्ञेय की भांति नहीं जाना जाता है, इसलिये जब तक कुछ भी ज्ञेय शेष है, तब तक जानना कि साक्षात् पर का है, स्व का नहीं। ज्ञेय जब अशेष है, तब जो शेष रह जाता है, वही ज्ञान है, वही स्व है, वही सत्य है।

रिन्झाई ने कहा है : 'समाधि के मार्ग में यदि स्वयं भगवान भी मिलें तो उन्हें राह से दूर कर देना।'

मैं भी यही कहता हूं। समाधि की राह जब पूर्ण निर्जन है, और ज्ञान की धारा में जब कोई ज्ञेय नहीं है और दर्शन को देखने को जब कुछ शेष नहीं है, तभी वह मिलता और जाना जाता है जो कि सत्य है।

एक सद्गुरु ने भी एक दिन यही कहा था। उसके एक शिष्य ने सुना। उसने अपने झोपड़े पर लौट सारी मूर्त्तियां तोड़ डालीं और सारे ग्रन्थ जला डाले। और जाकर अपने गुरु को कहा कि मैं वह सब

नष्ट कर आया हूं जो कि सत्य के आगमन में बाधा है। उसका गुरु उसकी बात सुन बहुत हंसने लगा था और उसने कहा था 'पागल, उन ग्रंथों को जला जो तेरे भीतर हैं और उन मूर्तियों को तोड़ जो तेरे चित्त की अतिथि बन गई हैं।'

ऐसा ही आज यहां हुआ है। एक युवक मेरी बातें सुन अपने पूजागृह को उजाड़ मूर्तियों को कुएं में फेंक आये हैं। उनसे मैंने कहा है : मूर्तियों को नहीं, उस मन को फेंको जो कि मूर्तियों का निर्माता है, और पूजागृहों को उजाड़ने से क्या होगा। जब तक कि यह सर्जक मन जीवित है जो कि प्रतिक्षण नये पूजागृह बना लेता है ?'

११९.

कोई धर्म के संबंध में पूछता था। उससे मैंने कहा है :

'धर्म का संबंध इससे नहीं है कि आप उसमें विश्वास करते हैं, या नहीं करते हैं। वह आपका विश्वास नहीं, आपका श्वांस प्रश्वांस हो तो ही सार्थक है। वह तो कुछ है, जो आप करते हैं या नहीं करते हैं जो आप होते हैं, या नहीं होते हैं। धर्म कर्म है, वक्तव्य नहीं। (It is an act, not a statement.)

और, धर्म कर्म तभी होता है, जब वह आत्मा बन गया हो। जो आप करते हैं, वह आप पहले हो गये होते हैं। सुवास देने के पहले, फूल बन जाना आवश्यक है। फूलों की खेती की भांति आत्मा की खेती भी करनी होती है।

और, आत्मा मे फूलों को जगाने के लिये पर्वतों पर जाना आवश्यक नहीं है। वे तो जहां आप हैं, वहीं उगाये जा सकते हैं, क्योंकि जहां आप हैं, वहीं रहते हुये भी आप पर्वतों पर हो सकते हैं। स्वयं के आंतरिक एकांत में ही पर्वत हैं और अरण्य है। यह सत्य है कि पूर्ण एकांत में ही सत्य और सौन्दर्य के दर्शन होते हैं और जीवन में जो भी श्रेष्ठ है, वह उन्हें मिलता है, जो अकेले होने का साहस रखते हैं। जीवन के निगूढ़ रहस्य एकान्त में ही अपने द्वार खोलते हैं और प्रेम की उपलब्ध होती है। और, जब सब शान्त और एकांत होता है, तभी वे बीज अंकुर बनते हैं, जो हमारे समस्त आनंद को अपने में छिपाये हमारे व्यक्तित्व की भूमि मे दबे पड़े हैं। वह वृद्धि, जो भीतर से बाहर की ओर होती है एकांत में ही होती है। और, स्मरण रहे कि सत्य वृद्धि भीतर से बाहर की ओर ही होती है। झूठे फूल ऊपर से थोपे जा सकते हैं, पर असली फूल तो भीतर से ही आते हैं।

इस आंतरिक वृद्धि के लिये पर्वत और अरण्य में जाना आवश्यक नहीं है, पर पर्वत और अरण्य में होना अवश्य आवश्यक है। वहां होने का मार्ग प्रत्येक के ही भीतर है। दिन और रात्रि की व्यस्त दौड़ में थोड़े क्षण निकालें और अपने स्थान और समय को और उससे उत्पन्न अपने तथाकथित व्यक्तित्व और 'मैं' को भूल जावें। सचित्त को उन सबसे खाली कर ले जो उसे सतत् भरे रहता है। जो भी चित्त में आवे, उसे जाने कि वह मैं नहीं हूं, और उसे बाहर फेंक दें। सब छोड़ दें प्रत्येक चीज अपना नाम। अपना देश, अपना परिवार सब स्मृति से मिट जाने दें और कोरे कागज की तरह हो रहें। यही मार्ग आंतरिक एकांत और निर्जन का मार्ग है। इसमें ही अंततः आंतरिक संन्यास भी फलित होता है।

चित्त जब सब पकड़ छोड़ देता है सब नाम रूप के बंधन को तोड़ देता है, तब वही आपमें शेष रह जाता है जो आपका वास्तविक होना है। उस क्षण आप अकेले हो और एकांत में हो। उस समय जो जाना जाता है, वह इस लोक और जगत् का नहीं है। उस ज्ञान में ही धर्म के फूल लगते हैं और जीवन परमात्मा की सुवास से भरता है।

इन थोड़े से क्षणों में जो जाना जाता है जो शांति और सौंदर्य और जो सत्य, वह आपको एक ही साथ दोनों पर जीने की क्षमता दे देता है। फिर, आप जगत् में होते हो लेकिन जगत् के नहीं होते हो। फिर, कुछ बाधता नहीं है, और जीवन मुक्त हो जाता है। जल में होकर भी फिर जल छूता नहीं है। इस अनुभूति में ही जीवन की सिद्धि है और धर्म की उपलब्धि है।

१२०

सत्य के मार्ग पर वह व्यक्ति है जिसने सारे मतों को तिलांजली दे दी है। जिसका कोई पक्ष है और कोई मत है, सत्य उसका नहीं हो सकता है। सब पक्ष मनुष्य मन से निर्मित हैं। सत्य का कोई पक्ष नहीं है और इसलिये जो निष्पक्ष होता है, पक्ष शून्य होता है, वह सत्य का हो जाता है और सत्य उसका हो जाता है।

इसलिये, किसी पक्ष को न चाहो, किसी संप्रदाय को न चाहो, किसी 'दर्शन' को न चाहो। चित्त को उस स्थिति में ले चलो, जहाँ सब पक्ष अनुपस्थित हैं। उसी बिंदु पर विचार मिटता और दर्शन प्रारंभ होता है। आँखें जब पक्ष मुक्त होती हैं, तो वे 'जो है' उसे देखने में समर्थ हो पाती हैं।

वास्तविक धार्मिक व्यक्ति वही है, जिसने सब धर्म छोड़ दिये हैं, जिसका अपना कोई धर्म नहीं है। और, इस भांति धर्मों को छोड़कर वह धर्म का हो जाता है।

मुझसे लोग पूछते हैं कि मैं किस धर्म का हूं? मैं कहता हूं कि मैं धर्म का तो हूं पर 'किसी' धर्म का नहीं हूं। धर्म भी अनेक हो सकते हैं, यह मेरी अनुभूति में नहीआता है। विचार भेद पैदा करते हैं, पर विचार से तो कोई धर्म में नहीं पहुंचता है। धर्म में पहुंचना तो निर्विचार में होता है और निर्विचार में तो कोई भेद नही है।

समाधि एक है और समाधि में जो सत्य ज्ञात होता है, वह भी एक ही है। सत्य एक है, पर मत अनेक हैं। मतों की अनेकता में से जो एक को चुनता है, वह सत्य के आने के लिये अपने ही हाथों द्वार बंद कर लेता है। मतों को मुक्त करो और मतों से मुक्त हो जाओ और सत्य के लिये द्वार दो, यही मेरी शिक्षा है।

समुद्र के नमक का स्वाद पूरब और पश्चिम में एक है और जल के वाष्पीभूत होने के नियम भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न नहीं हैं और जन्म और मृत्यु की शृंखला मेरे लिये अलग और आपके लिये अलग नहीं है फिर अंतस्सत्ता कैसे अनेक नियमों और सत्यों से परिचालित हो सकती है?

आत्मा में कोई भूगोल नहीं है, और न दिशाओं के कोई भेद हैं और न कोई सीमायें हैं। भेद मात्र मन के हैं, और जो मन के भेदों में विभाजित है, वह आत्मा के अभेद को उपलब्ध नहीं हो सकता है।

मैं सुबह घूमकर लौटता था तो एक पक्षी को पींजड़े में बंद देखा। उसे देख मुझे पक्षों में बंद लोगों की याद आई। पक्ष भी पींजड़े हैं बहुत सूक्ष्म और अपने ही हाथों से निर्मित। उन्हें कोई और नहीं, हम स्वयं ही बना लेते हैं। वे अपने ही हाथ से बनाये गये कारागृह हैं। हम स्वयं उन्हें बनाते हैं और फिर उनमें बंद होकर सत्य के मुक्त आकाश में उड़ने की सारी क्षमता खो देते हैं।

और, अभी मैं देख रहा हूं आकाश में उड़ती एक चील को। उसकी उड़ान में कितनी स्वतंत्रता है कितनी मुक्ति है। एक पींजड़े में बंद पक्षी है और एक मुक्त आकाश में उड़ान लेता और दोनों क्या हमारे चित्त की दो स्थितियों के प्रतीक नहीं हैं?

आकाश में उड़ता हुआ पक्षी पीछे न कोई पद चिन्ह छोड़ता है और न उड़ान का कोई मार्ग ही उसके पीछे बनता है। सत्य का भी ऐसा ही आकाश है जो मुक्त होते हैं, वे उसमें उड़ान लेते हैं पर उनके पीछे कोई पद चिन्ह नहीं बनते हैं और न कोई मार्ग ही निर्मित होते हैं। इसलिये, स्मरण रहे कि सत्य के लिये बंधे बंधाये मार्गों की तलाश व्यर्थ

बंधन तक ही पहुंच सकते थे, वे मुक्त कैसे कर सकते ? सत्य के लिए प्रत्येक को अपना मार्ग स्वयं ही बनाना होता है। और, यह कितना सुंदर है। जीवन पटरियों पर चलती हुई गाड़ियों की तरह नहीं है, वह पर्वतों से सागर की ओर दौड़ती हुई सरिताओं की भांति है।